# THE BOOK WAS DRENCHED

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180794

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—901—26-3-70—5,000

**OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY**

Call No. ૫૮૩ | ૫૪૧૨ Accession No ૫૩૩૨૭

Author ૫૫૧, ૫૨૫૮

Title ૪૬૫૨૬ ૮૨૧૧૩

This book should be returned on or before the date last marked below

# अधूरी तस्वीर

# अधूरी तस्वीर

मैं लिखना चाहती हूँ--कोई अच्छी-सी कहानी; लेकिन मुझे फुर्सत ही नहीं मिलती। बच्चों से घिरी हुई, घर के काम-काज में व्यग्त--क्या लिखूँ, कैसे लिखूँ ? इग लिखने के विचार से जी उद्विग्न-सा है, मन नहीं लग रहा।

मेरे पति ने मुझे सलाह दी है कि मैं थोड़े दिनों के लिये मन बहला लूँ घूम कर। सलाह मैंने मान ली है।

लेकिन, पाँच साल का यह ज्ञान और तीन साल की यह आभा ! ये मेरा साथ छोड़ें तब तो ! इनको भी साथ लेना पड़ेगा और इन के सम्हालने के लिये राधा भी साथ में है।

नई दिल्ली · · · बड़ा सुन्दर नगर है ! दस-पाँच दिन रुक कर यहाँ घूमा जाय। कुतुब की लाट, लाल किला, राष्ट्रपति भवन, बहुत कुछ देखने को है यहाँ !

होटल पहुँचती हूँ। एक कमरा खाली है। होटल वाला बतलाता है कि एक महिला इसमें थीं, कल शाम को ही वह यहाँ से गई हैं।

कमरा बड़ा-सा है। सजा भी ठीक से है। लेकिन न जाने क्यों एक उदासी-सी इस कमरे में भरी हुई मालूम होती है।

राधा, ज्ञान और आभा को नहलाने-धुलाने बाथ-रूम में चली गई है। मैं अकेली बैठी हूँ। रात भर का सफ़र, सोने को जी चाहता

है। लेकिन यहाँ इस अलमारी में यह पैकेट कैसा ? इस पर किसी का नाम नहीं, पता नहीं। देखूँ तो !

अरे ये तो पत्र हैं—एक स्त्री के लिखे, एक पुरुष के नाम। पढ़ूँ ? पर क्या अभी ?

राधा बच्चों को लेकर बाथ-रूम से निकली है। पत्र बिखर गए हैं। मैं इन्हें सहेज रही हूँ और कहती हूँ—"राधा ! आज शाम को घर वापस चलना है।"

ज्ञान चिल्लाता है—"ममी····· !"

राधा चकित-सी मुझे देखती है।

मैं धीमे स्वर से कहती हूँ—"कहानी मुझे मिल गई।"

हाँ, यह मेरी कहानी है, क्योंकि जिसकी कहानी है उसने इसे त्याग दिया है। मुझे इस कहानी की माँ के प्रति हमदर्दी है·····, उसके अन्दर की पीड़ा को मैं समझती हूँ। मैं उस कहानी को गोद ले रही हूँ।

यह रमा कौन है ? यह राज कौन है ? राज का पता लगाया जा सकता है और राज से रमा के सम्बन्ध में जानकारी भी हासिल की जा सकती है। लेकिन यह सब मैं क्यों करूँ ? मुझे इस सुन्दर बालक से मतलब है···और यह कहानी ! किन कुरूपताओं से उस का सृजन हुआ है ! इस सब में मैं क्यों पड़ूँ ?

ये बीस पत्र ! इनमें एक सम्पूर्ण कहानी है। यह क्या ? मेरी आँखें गीली हो गईं। नहीं, मुझे आज रात को ही घर लौटना है। तस्वीर अधूरी-सी दिखती है। माना, पर कहानी पूरी हो चुकी है।

क्या कभी रमा से मिल सकूँगी ? वह कौन है ? कैसी है ? कहाँ है ? कहाँ है ?

## पहला पत्र

मेरे अपने,

मैं तुम्हारी न सही, लेकिन तुम, तुम तो अब भी मेरे अपने हो। सच कहती हूँ, तुम मुझ से दूर नहीं हो सके। कोशिश की थी कि इस दूरी में मैं स्वयं अपने तक कुछ बनी रहूँ। लेकिन अब लगता है वह मेरी भूल थी···हाँ, केवल एक भूल, ऐसी भूल जिसमें केवल तुम अदृश्य हो गये थे, दूर नहीं।

वह अदृश्यता, जिसे मैं जानकर भी पहचान न सकी। उसी का सहारा लेकर मैंने अपने को टटोला, सोचा—समीपता दूर भाग चुकी है तो क्या हुआ! क्या स्वयं में मैं इतनी छिछली हूँ जो तुम्हारे आश्रय बिना जी नहीं सकती? जब सोचा कि तुम्हारे आश्रय के अतिरिक्त जो मेरे पास है उसी को परखना चाहिये, देखना चाहिये कि मेरी निज की सम्पत्ति क्या है, खुद की औकात क्या है, तो बस यही सोच तुम्हारी ड्योढ़ी को लाँघ आई।

राज! कुछ ऐसी घड़ियाँ आती हैं जो कुछ कर के बीत जाती हैं। तब मात्र भर हम कहने को होते हैं। वह कहना भी क्या अपना होता है? नहीं, अपना होता तो समझने की बुद्धि हम खो न बैठते। वह तो एक आवेश भर होता है, जो तूफान की भाँति आगे बढ़ जाता है और कुछ उछाल कर, दूर फेंक कर, शान्त हो जाता है। निधि तो हमारी लुट जाती है, जिसे लुटता देख-समझ कर भी हम हारे जुआरी की भाँति लुटती हुई निधि को देखते ही रह जाते हैं, पकड़ा नहीं जाता क्योंकि उसे पकड़ने की चेष्टा तब हमारा साथ नहीं देती।

तो चली आई राज ! तुम्हारी ड्योढ़ी को लाँघ मैं चली आई। तुम खड़े देखते रह गये, रोका नहीं, पुकारा भी नहीं, पूछा भी नहीं कि आखिर यह जाना, कैसे जाना ? तब आते समय मैं भी कहाँ सोच पाई थी कि जाना हो सकेगा कहीं ? बस एक आवेश था, एक अभिमान था, जिसके सहारे मैं चली आई···इस आशा के सहारे कि शायद कहीं तुम्हारे होंठ खुलें और मैं सुनूँ—"रुक जाओ रमा, रुक जाओ।" लेकिन ओफ़ ! तुम्हें जैसे कांठ मार गया था। तुम खामोश थे, विक्षिप्त की भाँति दरवाजे की चौखट को पकड़े देखते रह गये। आगे चली तो ध्यान फिर तुम्हारा आ गया। मुड़कर देखा, हाँ जरूर देखा, आखिर उस देखने को मैं रोक नहीं सकी, रोकती भी कैसे ? कुछ भी हो, तुम मेरे पति जो थे ! इसी अपनी खींच में तुम्हें देखा, तुम तब भी खड़े थे। नज़रें कहीं और थीं, जैसे मेरे पाँवों से उड़ने वाली धूल तुम्हारी आँखों के आगे एक लीक बन आई थी, जिसे लाँघ आने की तुम में शक्ति नहीं थी।

समझती थी—दुनिया जो इतनी बड़ी है, क्या ठिकाने भर के लिए कोई कोना मुझे न देगी ? और सच कहती हूँ—ठौर मिल गया है, बसेरा भी बना रखा है। पर लगता है उस बसेरे में बसने वाली मेरी काया तो वही है, मन वह नहीं है।

समझती हूँ, अपने को लाख समझाती हूँ, चाहती हूँ इस चंचल मन को सीमा लाँघने न दूँ। पर मैं क्या करूँ, निगोड़ा मानता ही नहीं। रह-रह कर उड़ने की चेष्टा करता है। तुम्हारी छत की मुंडेर इतनी ऊँची हैं कि नज़रों को बचा कर भी उसे देखने से छिपाया नहीं जा सकता।

तुम्हारा घर ! तुम्हारे घर की सब वस्तुएँ एक-एक करके याद आ रही हैं। कितने यत्न से उसे सहेज पाई थी। "खर्च बहुत हो जाता है," तुम अक्सर कह देते थे। गिन कर सुना देती थी, तुम सच मान प्रतिवाद नहीं करते थे। लेकिन मैं जानती थी, उस सच-झूँठ में मैं कहाँ तक ठीक-ठीक तुल सकती हूँ। परन्तु करती क्या ! मुझे गृहस्थी जुटानी थी, एक सुघड़ और स्वस्थ गृहस्थी के लिये क्या-क्या चाहिये, यह प्रश्न मेरे सामने था, तुम्हारे नहीं। इसी से जुटने वाली चीजों को छिपा कर कह देती—"खर्च जो है तुम्हारे ही सामने है, कहीं फेंक तो नहीं आती।"

तुम रुपए देते गए और मैं घर बनाती रही। मैं देखती थी उन खरीदी, सजाई हुई वस्तुओं को जो तुम्हारी कमाई की शोभा होती थी। तुम देखते और देखकर भी कभी पूछने की आवश्यकता न समझते कि आखिर ये सब कहाँ से आती हैं और कैसे आती हैं ? तुम्हारी लापरवाही को देख मैंने समझा यह उदासीनता है। तुम्हें हर समय जब काम में व्यस्त पाती तब जाने-अनजाने सोचती—आखिर इतनी विद्वत्ता, इतनी योग्यता और इतनी मेहनत का होगा भी क्या ! तुम एम. एम-सी. में यूनिवर्सिटी में फर्स्ट आए। सभी ने मेरे भाग्य को सराहा, क्योंकि तुम्हारे घर मेरा पदार्पण उसी वर्ष हुआ था और आने के लक्षण शुभ मान कर तुमने भी कहा था—"इतनी सफलता पाने की तो उम्मीदकभी नहीं थी, यह सब तुम्हारा ही भाग्य है रमा !" पर वह प्रशंसा मुझसे सहन नहीं हो सकी थी, तभी तो तुम्हारे कन्धों पर सिर रख कर मैं कह उठी थी—"मेहनत तुमने की और मान मुझे मिला।"

क्या बताऊँ कितनी खुश थी मैं ! तुम्हें कालेज में स्थान मिला, वेतन भी अच्छा और प्रतिष्ठा भी बहुत । परन्तु, तुम्हें उतनी प्रतिष्ठा पर सन्तोष न हुआ, तुम तो निरन्तर आगे ही बढ़ने की चेष्टा में अपने को जैसे भूल गए । तुम्हारे उस छोटे नपे-तुले कार्य-क्रम से मैं ऊब उठती थी । जब देखती कि कालेज से आकर कुछ खाए-पिए बगैर ही तुम सीधे प्रयोगशाला में चले गए हो, तब तुम पर गुस्सा दिखाने की अपेक्षा मैं अपने पर खीझ उठती और अपने से कह उठती—"यह विज्ञान-शास्त्र मुझे ही मिटा देगा ।"

खीझती, झल्लाती हुई मैं तुम्हारी प्रयोगशाला में जा पहुँचती । वहाँ तुम कभी सिर झुकाए हुए गैसों का प्रयोग करते हुए दिखाई देते, तो कभी मोटी-मोटी किताबों को उलटते पलटते हुए नजर आते । और कभी हथेलियों पर हड्डी रख गहरे सोच में इस कदर डूबे होते कि मेरे आने की आहट तो क्या, मेरे पूछे जाने पर भी तुम्हारी तन्द्रा न टूटती ।

तब जाने क्यों राज ! तुम्हें उस तल्लीनता में बैठे हुए देख मै दबे पाँवों लौट आती, जैसे कोई भीतर ही भीतर मुझसे कहता—"जगाना अच्छा नहीं ।" तुम क्या खोजना चाहते थे, क्या पाने की इच्छा में मशगूल थे, यह तुमने मेरे लाख पूछने पर भी कभी नहीं बताया था । पर यह मैं नहीं जानती थी कि हर समय की व्यस्तता किसी न किसी विशेष बात के लिए होगी । लेकिन मुझे तुम्हारी उस व्यस्तता से दिनों-दिन अरुचि होती गई । मुझे अनुभव होता जैसे तुम मेरी ओर से केवल लापरवाही नहीं बल्कि अपने लिये मेरी उपस्थिति को एक बन्धन-सा अनुभव करने लगे हो । और सच ही तुम ऐसा महसूस भी किया करते थे । तब अक्सर मैं सोचती कि

विज्ञान के इस कोरे अध्ययन ने तुम्हें मनुष्य की स्वाभाविक प्रकृति से सर्वथा दूर हटा दिया है। तुम्हारे मस्तिष्क की सूझ ने तुम्हारे हृदय की भावनाओं का गला घोंट कर रख दिया है। जैसे इन प्रयोगों की क्रिया तुम्हें मानव से अमानव बनाने में प्रगतिशील है। सच ही तुम्हारे भीतर कभी वह आवाज सुनाई ही नहीं दी, जिसमें मेरी पुकार थी, जिसमें मेरे प्रेम की विकलता थी। जब यह सब मैं सोचती तो मुझे अनुभव होने लगता कि तुम्हारी सफलता की आड़ में छिपी-छिपी मेरी ही भर्त्सना हुई जा रही है।

पर दूसरे ही क्षण तुम्हारी कुछ ऐसी बातें भी याद हो आतीं जिन में स्नेह, ममता और प्यार झलक रहा होता था। "तो क्या यह तुम्हारा सहज व्यवहार है ?" मैं अपने से पूछती और कहती—"इतने सीधे आदमी से ऐसी आशा नहीं करनी चाहिए।"

राज, मेरे स्थान पर कोई और होती तो शायद तुम्हारी इस सहज स्वाभाविकता से निहाल हो उठती, परन्तु मैं ऐसी न थी। तुम्हारे 'सहज' को मैंने उपेक्षा समझ लिया, सोचा जो है क्या केवल मेरी ही रुचि तक है? क्या उसमें तुम्हारी रुचि का सवाल नहीं उठने का ? प्रशंसा को न पाकर मैं तुम्हारी स्वाभाविकता को भी स्वीकार न कर सकी। उस कारण की खोज करती हुई मैं आगे बढ़ने लगी। तुम पीछा छुड़ाने की कोशिश करते और मैं तुम्हें और भी अधिक पकड़ने की चेष्टा करती। कहती—"तुम्हें मेरे काम में, मेरी पसन्द में, रुचि नहीं और हो सकता है तुम्हें मुझसे भी कोई लगाव···" आगे के शब्द कोई रोक-रोक लेता था कि वह न निकले, न निकले।

हाय, मैं वह रोक कहाँ पाई थी ! समय-असमय अब देखती,

तुम वह नहीं थे जो मैं चाहती थी। बस, मुझ में कटुता व्याप जाती, प्रतिकार कचोट-कचोट कर मुझसे कहता--"भला, इतना भी सहा जा सकता है क्या ?"

तुम्हें केवल अपने काम से सरोकार था। घंटों जब तुम्हें प्रयोगशाला में बैठे देखती तब सोचती--पुरुष कितना स्वार्थी है, उसे अपने काम से प्रेम है, जब काम करते-करते थक जाता है तब अनायास भूख की याद हो आती है और तब भूख मिटाने के हेतु वह स्त्री की जरूरत को समझता है।

'तो क्या मैं भी उसी भूख को मिटाने के लिये एक आहार-मात्र हूँ ?' ओफ ! सोचते ही मेरे तन-मन में आग-सी लग गई। मेरा स्वाभिमान जाग उठा। नारी प्यार माँगती है, प्यार के बदले वह प्यार दे सकती है, भूख मिटाने का वह साधन नहीं, हर्गिज नहीं।

जो कुछ दिनों से दबाए हुए थी वह एकाएक भभक उठा। बोली--"तुम्हें मेरी जरूरत नहीं तो साफ-साफ कह दो।" मुँह बाए तुम देखते रहे। बोले नहीं। अब अपने ही प्रश्न से मैं आहत हो उठी तब पाँव पटकते हुए तुम्हारी प्रयोगशाला से निकल आई। तब सोचा--'तुम मनाने आओगे, पूछोगे आखिर कहना क्या है ?'

लेकिन नहीं, तुमने कुछ पूछने की जरूरत नहीं समझी। जैसे मैं व्यर्थ थी, मेरा कहना एक व्यर्थ की बकवास थी। उस रात तुम खाना खाने भी नहीं आए, वहीं बैठे रहे और काम करते रहे।

क्या कहूँ कि मैंने क्या अनुभव किया ?

क्या करना है बता कर ? जो परिणाम निकला उसे तो तुम जानते ही हो। मैं वह न बन सकी जिसकी रुचि अपने तक रहती

है, मैं तुम्हारी चाहना की इच्छुक थी, मेरी पसन्द में तुम्हारा ही साथ रहता, मेरे काम में तुम्हारा ही सहयोग रहता, यही तो चाहती थी ! इसके अलावा मेरे पास तुम्हारा क्या न था, जिससे मुझे सन्तोष न होता ?

तुम्हें याद होगा, उस दिन मौसम अधिक खराब था । मैंने तुम्हें पिक्चर जाने के लिये विवश किया था । तुम्हें उस दिन कितना काम था, यह जानकर भी मैंने तुम्हें विवश किया था, यह टटोलने के लिये कि मेरी इच्छा का मूल्य तुम्हारे तक क्या है ? मैं हैरान थी कि तुम मान कैसे गये थे । चलते समय पूछ बैठी—"क्या पहनूँ, झूमर या बालियाँ ?" तुमने धीरे से कह दिया—"जो जी चाहे ।" मैं अपने पूछने पर हार खा बैठी । फिर भी रुकती-रुकती बोली—"साड़ी कौन-सी ठीक रहेगी ?" तुमने जवाब दिया—"मुझे क्या मालूम ।" आव देखा न ताव हाथ में पकड़ी चीजें दूर फेंक दीं, कड़क कर बोली—"मुझे कहीं नहीं जाना है, तुम जाओ अपना काम देखो ।"

ओफ, बलिहारी है तुम्हारी राहनशीलता की ! बोले कुछ नहीं, चुपचाप उठकर चले गये । जाते हुए तुम्हें देखा तो निगाह शीशे में पड़ती उस परछाई पर पड़ी । ओह, कह नहीं सकती कि वह रूप मेरा कितना छिछला था, लगा कपड़े भारी हैं और मैं स्वयं में हल्की हूँ । चाहा आवरण उतार कर दूर फेंक दूँ और अपने को पहचानूँ । तुम्हारे नपे-तुले कदमों से मैं भले नहीं कुचली गई, परन्तु मेरा व्यक्तित्व कुचला गया था, उसी से तो उस दिन के बाद तुम्हारी नजरों से नजरें मिलाने का मुझ में साहस नहीं हुआ ।

तुम खिचते चले गये और नियति का व्यवधान बढ़ता चला गया। किनारा मुझ से छूट चुका था, हिचकोले खाने से मैं थक चुकी तो अपने को किसी तक खींच लाई। आगे की क्या कहूँ, कहाँ तक आई और कहाँ जाऊँगी। अभी इतना ही।

## दूसरा पत्र

मेरे वही,

आज रात्रि की निस्तब्धता में तुम्हारी याद आ रही है। लगता है जैसे आस-पास के समस्त वातावरण में तुम्हारी ही स्मृतियाँ भरी पड़ी हैं। काम-काज से निबट कर मैं पलङ्ग पर आ लेटी हूँ। छत की कड़ियों पर दृष्टि जा अटकी है। देखती हूँ एक मकड़ा बड़ी तन्मयता से जाल बुन रहा है। हल्की-हल्की छूँ छूँ की ध्वनि से मेरे हृदय के तार झनझना उठे हैं और मुझे याद आ रहा है कि विवाह के महीने भर बाद मैने भी गृहस्थी जुटानी शुरू की थी, तुम प्रयोगशाला में व्यस्त थे और मैं चीज-वस्त टिकाने लगाती हुई गुनगुना रही थी। मुझ में तब कितना उत्साह था, कितनी तन्मयता थी, कितनी आशाएँ थीं।

सोचती तो निहाल हो उठती ··· यह घर मेरा है, मेरे पति का है और मैं इस घर की एकमात्र स्वामिनी हूँ। स्वामित्व का भार सौंप तुमने मुझे सातों आसमानों पर उठा लिया। ओह, मेरे प्रति तुम्हारा यह कितना बड़ा सम्मान था।

लेकिन आज सोचती हूँ तो ग्लानि से भर उठती हूँ। सम्मान पाकर भी मैं रोती क्यों रह गई ?

राज, मनुष्य प्यार के बदले प्यार पाने की कितनी बड़ी कामना रखता है ! प्यार देकर मैं प्यार पाने की इच्छा तुम से न रखती तो इतनी बड़ी ग्लानि को अपने में प्रश्रय देने का अवसर मुझे न मिलता । लेकिन इच्छा क्यों न रखती ? मेरे भीतर की नारी भूखी थी । तृप्त होने की उसमें बराबर होड़ लगी थी । तुमने मुझे पहचाना ही कहाँ ? मेरे बाहर से तो तुमने परिचय पाया, पर मेरा भीतर भी तो कुछ है ।

भूलती थी राज कि मैं नारी हूँ···हूँ तो बटोरने के लिए नहीं हूँ, लुटाने के लिये हूँ, क्योंकि सीख हमें तुम पुरुषों द्वारा ही दी गई है और इसी सीख को समाज ने सीमा बनाकर रक्खा है । लेने-देने का व्यापार हम स्त्रियों के लिये नहीं होता, उससे संतोष पाया जा सके तो अच्छा, नहीं तो पाने की भावना ही व्यर्थ है ।

मैं मानती हूँ कि मेरा सहयोग पाकर तुम फूले नहीं समाते थे । तुम्हारे जगने से पहले ही मैं उठ बैठती थी, इस विचार से कि उठने से पहले तुम यह देख सको कि रात की थकावट से तुम्हारी प्रयोगशाला में जिन चीजों की व्यवस्था नहीं हो पाती थी, वे ही सुबह-सवेरे सहेज कर रख दी गई हैं । बात सिर्फ यही न थी कि उनकी व्यवस्था करते समय मुझे केवल तुम्हारी प्रसन्नता का ख्याल बना रहता था । उन्हें झाड़ते-पोंछते हुए मुझे ऐसा अनुभव होता जैसे वे प्यारी-प्यारी चीजें तुम्हारी ही योग्यता का प्रतीक हैं । उन्हें ऐसा मानकर मैं तुम्हारी सफलता की आशा लेकर झूम-झूम उठती थी । तब उन चीजों का मूल्य मैं आँक नहीं सकती थी, हाँ अनुमान लगा सकती थी ।

लेकिन राज, कौन जानता था कि उस अनुमान के व्यापार में घाटा पड़ने वाला है। वे वस्तुएँ मेरे मूल्य को घटा कर स्वयं में भारी दीख पड़ेंगी और तुम्हारा आकर्षण उन्हीं की ओर बढ़ता जायगा। वे ही मेरा सब कुछ हर ले गईं, राज ! तुम उनकी ओर बढ़ते गये। मैं क्या हूँ, क्या सोचती हूँ, क्या तुमसे चाहती हूँ, कैसा महसूस करती हूँ, तुम इससे बिल्कुल बेखबर हो गये। जिनकी व्यवस्था की, जिन्हें खुद अपने हाथों से सजाया, वे ही मेरी सौतें बन गईं।

याद है, तुम्हारी प्रतीक्षा में घंटों बैठी रहती थी ? खाना पड़ा पड़ा ठण्डा हो जाता था, लेकिन तुम्हें फुरसत न होती कि समय का साथ निभाते, कुछ सुनते और कुछ सुनाते। हाँ, मेरी याद तभी आती जब थक कर चूर हो जाते थे, जब पलकें झपने लगती थीं और आँखों में नींद समा जाती थी। तब तुम्हारी व्याकुल बाँहें किसी का आश्रय ढूँढने को उत्सुक हो उठती थीं तब जाने-अनजाने मेरी निकटता का तुम्हें एहसास हो आता था।

और मुंदी-मुंदी आँखों में नींद को थपकियाँ देने को धीरे से तुम कह उठते—"मेरी रमा, मेरी अच्छी रमा !" और मुझे अंक में भर कर बोलते—"तुम्हें पाकर मैं कितना सुखी हूँ, रमा !"

ओह ! तुम्हारा वह स्वर आज भी इस अँधेरी कोठरी में गूँज रहा है। मैं जाग रही हूँ। यह कमरा और यह वातावरण कितनी खामोशी की नींद ले रहा है ! हल्के-हल्के पर्दे हवा की सरसराहट से काँप रहे हैं, जी चाहता है इन परदों के बाहर झाँक आऊँ उस अँधियारे को, जिसमें यह दर्दभरी रात्रि प्रियतम की बाहों में लिपटी धीरे-धीरे सिसक रही है।

लेकिन सोचती हूँ, उस अँधियारे को देख मैं अपने भावों का सन्तुलन न खो बैठूँ। मेरे मन में जो घना अन्धकार भर गया है, उससे अगर कहीं हल्का वह दीख पड़ा तो झाँकने की भूल मुझ में एक कसक भर देगी। तुम्हीं बताओ उस समय मैं किस की बाहों का आश्रय ले सिसकूँगी!

धीरज छूट जाता है राज, जब वे घड़ियाँ याद आ जाती हैं। माँ की याद जब मुझे व्याकुल बना देती थी तब मेरी उदासी को देख तुम मेरे निकट आकर पूछते थे—

"क्या हुआ रमा? बोलो, उदास क्यों हो?"

मैं तुमसे लिपट सुबक उठती। कहती क्या? तुम्हें निकट पा, कहने की स्थिति मेरी रहती ही नहीं थी। तुम्हारी निकटता में इतनी आत्मीयता का अनुभव होने लगता था कि माँ की याद भूल जाती और मैं सुख से विभोर हो उठती।

सच कहती हूँ, बहुत प्यार पाकर भी मैं रो पड़ती थी, जी चाहता था मैं सुबकती ही रहूँ और तुम अपनी गोद में मेरा सिर रखे झुके-झुके निहारते रहो। तुम्हारे हाथ को मैं दोनों हाथों से पकड़े रहती थी, इस विचार से कि कहीं उन हाथों से मेरा सिर तुम अपनी गोद से हटाकर नीचे न रख दो।

ओफ़! तब क्या जानती थी कि एक दिन ऐसा आयगा ही। कभी-कभी मन-सोची बातें सच प्रमाणित होकर रहती हैं।

लेकिन मैं करूँ भी क्या, मेरा सब कुछ अकारण ही छूटता चला गया। अपने प्रेम पर विश्वास करते हुए भी मैं तुम्हारे ऊपर अविश्वास कर बैठी। उस अविश्वास की धुँधली रेखा, एक काली और अमिट रेखा मेरे कदमों तक बढ़ती चली आई। क्या जानती

थी कि उसे लाँघ आने का साहस मेरे बस की बात नहीं होगी। अब तो उस रेखा को केवल लाँघ ही नहीं आई, सब कुछ जो था झोली झाड़ कर चली आई। झड़ते समय जो अमूल्य धूल में जा गिरा उसे कहाँ ढूँढूँ ? घिरे अन्धकार में अन्धड़ की इस सनसनाहट में वह गिरा हुआ, मैं कहाँ ढूँढूँ ? यह कमजोर चिराग, यह काँपती लौ, उसे कभी नहीं ढूँढ सकेगी, कभी भी नहीं।

इस अभिमान और प्यार के आदान-प्रदान में मैंने आखिर पाया ही क्या ? तुम्हें मेरे आने पर आश्चर्य जरूर था, लेकिन मुझे विश्वास है कि तुम्हें अफसोस नहीं था। होता तो तुम विचलित हो उठते, कहते—"रमा मत जाओ।" सुनती तो कितना आनन्द आता। सोचती—पुरुष का पुरुषार्थ हिल गया है और नारी का अभिमान जीत गया है। कहती—"घर उनका क्या, मेरा था और मेरा ही है," लेकिन अफ़सोस जो न होना था वह न हो सका।

पर, इस जुदाई को मैं केवल एक भूल करार नहीं दे रही हूँ। नहीं, भूल तो तब होती जब अनायास ही आवेश में आकर कुछ कर बैठती। मेरे और तुम्हारे बीच तो अकारण का व्यवधान धीरे-धीरे बढ़ा। मुझे सोचने को काफी अवसर मिला। अपने को संयत बनाए रखने की मैंने चेष्टा भी की। पर, क्या बताऊँ राज ! तुमने कभी एक बार भी तो इस पर ध्यान नहीं दिया, कभी सोचा भी नहीं कि मेरे भीतर कितना संघर्ष हो रहा है। कितनी उमड़-घुमड़ है। कितनी उथल-पुथल है।

तुम्हारा प्यार जीतने की मैंने चेष्टा न की हो, ऐसा तो मैं सोच ही नहीं सकती। मुझे याद है तुम्हारा ध्यान अपनी ओर खींचने की मैंने काफी कोशिश की थी—कभी गुन-गुना कर, कभी अपने को

सजा-संवार कर, कभी तुम्हारे काम को तत्परता से कर देने की खुशामद से और कभी तुम्हें अपना अवलम्ब मान कर। लेकिन तुम्हें जिस चीज से लगन थी उसी से बढ़ती गई। मुझसे भी जब तक हुआ, समझौता करती चली आई। जब ऊब उठी तब इन्कार करके चली आई। दुहाई दूँ तो किस बूते पर, कोसूँ तो किस दोष से, रोऊँ तो किस दुख से।

मन भर आता है तो तुम्हें याद कर लेती हूँ। जब उदासी से बोझिल हो जाती हूँ तब रो लेती हूँ। जब अपने तक लावारिस-सी दीखने लगती हूँ तब तुम्हें कोसने लगती हूँ। इसके अलावा और मैं कर भी क्या सकती हूँ? रोना और रोकर मुँह धो लेना। काश, कभी तुम यह सब देख सकते। लेकिन नहीं, मैं जानती हूँ मेरे आँसू पोंछने इतनी दूर तुम नहीं आओगे। रोने की आड़ ले कभी मैं हँस सकी तो बुलाऊँगी, अभी नहीं।

अच्छा, अब और सुनो राज! अभी-अभी सुजाता का पत्र मिला है, लिखती है—"अरे राज से रूठ कर कैसे चली आई?" मालूम नहीं उसे कैसे खबर मिल गई। इन दिनों मैंने उसे कुछ नहीं लिखा और न ही यह बताया कि यहाँ रह रही हूँ।

बड़ी बहन होने के लिहाज से मुझे वह डाँट भी सकती है। तभी तो लिखती है—"बचपन की जिद्द अभी तक नहीं छूटी। राज गरती से काम लेता, तो तुझे बस में कर लेता।"

कुछ अंश मैं नहीं बताऊँगी। उसे लिखूँ तो तुम सरासर मुझे ही गलत ठहराओगे। सुजाता ने जोर दिया है कि मैं वह कारण लिखूँ जिसके लिए मुझको तुम्हारे यहाँ से आ जाना पड़ा है।

क्या लिखूँ? कारण तो एक बहाना होता है, राज! उस

बहाने की आड़ लेकर मैं तुम्हें या अपने को सफाई देने के लिए क्योंकर तैयार करूँ ? हर चीज का समय होता है और मैं समझती हूँ समय आने पर कोई किसी का पल्ला बाँध नहीं सकता । जब तक दिल की गाँठ नहीं खुलती तब तक एक-दूसरे के भीतर की वस्तु पहचानी भी कैसे जा सकती है ? कारण मात्र तो समझौते का एक रूप है, जो मतलब साधने के लिये बना लिया जाता है और उसके ओर-छोर को मज़बूत बनाने के लिये एक छोटा-मोटा मज़मून बनाना पड़ता है । उस मज़मून में कौन-सी त्रुटि अपने जिम्मे ली जाए और कौन-सी दूसरे के पक्ष में, इसके लिए भी माथा-पच्ची करनी पड़ती है ।

राज, मैं इन सब में विश्वास नहीं करती । सुजाता को लिखना ही पड़ेगा—"बनी नहीं सुजाता ! दोष न राज का है और न ही शायद मेरा । इसी से समझौते की बात का कोई लक्षण दिखाई नहीं देता ।"

यही कह देना अच्छा नहीं होगा क्या ? मैं जानती हूँ इस पर सुजाता को सन्तोष नहीं होगा, लेकिन इससे सुजाता हम लोगों के बीच में आने की चेष्टा नहीं करेगी । सुजाता मेरी बहन है । वह मेरे भले की बात कहेगी । लेकिन मैं जानती हूँ, उससे कुछ बनेगा नहीं । पति-पत्नी के मामले में किसी तीसरे का क्या काम ? विरोध-प्रतिरोध की भावनाएँ तो सभी दूर हो सकती हैं जब अपने आप से समझौता कर लिया गया हो । जहाँ यह सब नहीं है, वहाँ तीसरा आकर करेगा ही क्या ? बेकारण को कारण बना देना मुझे अच्छा नहीं लगता···और तुम स्वयं समझते तो बात भी थी । सुजाता समझाए और तुम मुझ से समझौता करने को तैयार हो जाओ,

यह मुझे पसन्द नहीं। मैं सुजाता को लिख दूंगी, अभी उसके आने की आवश्यकता नहीं।

प्रेमा को बताना पड़ा था, बात दूसरी थी। वह मेरी सखी है और उसके कारण अकेली रहने की मुझे असुविधा भी नहीं हुई। इसी से ठहरी हुई हूँ, पर जल्दी ही यह आश्रम छूटने को है, उसे उस की माँ ने बुला लिया है, शायद अगले महीने उसका विवाह भी हो जाएगा।

यह प्रेमा का प्रभाव है कि स्कूल में जल्दी काम मिल गया है? दिन गुज़ारने का साधन मिल गया है, मकान अच्छा नहीं, कमरा भी ठीक नहीं, लेकिन इससे क्या? समय आए और वह सब्र से काटा न जाए, यह बात अच्छी नहीं होती। इसी से शान्त हूँ। अपने को बहलाऊँ न, तो क्या करूँ?

प्रेमा अक्सर पूछती है—"क्या तुम राज को भूल नहीं सकोगी?" मैं हँस कर टाल देती हूँ। जवाब जो मेरे पास है उसकी डोंडी कैसे पिटवाऊँ? होठों पर आये हुए शब्द लौट-लौट जाते हैं। कहा नहीं जाता कि प्रेम तो एक स्मृति है प्रेमा, ऐसी स्मृति जिसमें रुदन है, हँसी भी है, मादकता भी है, तड़प और रोष भी है। इन सबसे एक साथ अपने को छिपाया नहीं जाता। छिपा सकती तो हर घड़ी वे मेरे साथ-साथ न रहते। धूप-छाँह की आँख-मिचौनी है। पास-पास रहते हुए भी दूरी बनी रहती है। कोई इससे आँख सेंक ले और कोई शीतलता अनुभव कर ले, यह तो अपनी-अपनी किस्मत की बात है। तुम्हारी बूढ़ी नौकरानी बहुत याद आती है और वह खरगोश जिसे तुम भी प्यार करते थे, रह-रह कर याद आ जाता है। तुम्हारी गैर-हाज़िरी में मैं उससे जी बहला लिया करती थी,

उसकी मेहरबानी मैं भूली नहीं। तुम्हारे यहाँ आजकल कौन आता है और क्या-क्या बातें होती रहती हैं, अक्सर मैं इस विषय पर काफी सोचती हूँ। आजकल जाने कैसे तुम्हारे घर वालों की याद आया करती है, यह जान कर भी कि वे लोग मुझे हीन समझते होंगे। परिचितों से, सम्बन्धियों से, सबसे मैं छिपी-छिपी रह रही हूँ, रास्ते चलते भी यही आशंका रहती है कि कोई जान-पहचान वाला न मिल जाए। गनीमत है कि शहर बड़ा है और इस बड़े शहर के एक सिरे पर मेरा बसेरा है। जिस रास्ते आना जाना होता है, वहाँ चिर परिचितों के मिलने की उतनी आशंका नहीं है।

कितनी बार सोचा कि इस शहर से दूर कहीं जाऊं, पर फिर जाने क्यों कोई आशा मुझे खींच लेती है। घर से दूर हूँ, ठीक है! पर परदेश में नहीं हूँ, यही क्या कम है। भूले भटके राही भी बिछुड़ बिछुड़ कर एक दूसरे को कभी दिखाई दे ही जाते हैं। हो सकता है, कभी मैं भी तुम्हें तुम्हारी राह पर मिल सकूँ। इसी से अभी यहीं हूँ नहीं तो स्कूल में जी नहीं लगता। बहार चली जाऊं तो कुछ सुविधायें भी प्राप्त ही सकेंगी और स्कूल वाले बाहर भेजने का प्रयत्न भी कर रहे हैं।

इधर इस गली में इतनी सड़ाँद है कि नाक बन्द करके गली पार करनी पड़ती है। मुहल्ला क्या है, गाय भैंस का तबेला है। कच्ची-कच्ची कोठरियाँ वे भी इतनी छोटी-छोटी कि दो आदमी मुश्किल से समा सकें, पर यहाँ दो-दो आदमियों के स्थान पर पाँच-पाँच रह रहे हैं। बच्चों की चिख-चिख चैन नहीं लेने देती।

रात एक अजीब तमाशा देखा—तमाशा इसलिए कि ऐसी घटनाएँ आए दिन हुआ करती हैं। इस मुहल्ले में धोबी, चमार,

लोहार और बढ़ई रहते हैं। धोबियों के अलावा बाकी सब घरों में काम करते हैं और उनके साथ उनकी स्त्रियाँ भी काम करती हैं। रात एकाएक ज़ोर का शोरगुल हुआ। प्रेमा जाग रही थी। वह मेरे पास आई और मेरा बाजू पकड़ कर छत पर खींच ले गई। देखा तो देखती ही रह गई। लोहार अपनी पत्नी को पीट रहा था और पास खड़ी लोहार की माँ बहू को गालियां दिए जा रही थी। मार खाती हुई पत्नी चीख रही थी और साथ ही मुहल्लेवालों से सहायता के लिए याचना कर रही थी। मैंने देखा छतों पर खड़े सभी तमाशा देख रहे थे, मगर आगे बढ़ कर उसे छुड़ाने का साहस कोई भी नहीं कर रहा था।

पूछने पर प्रेमा ने बताया कि इस तरह की मारपीट प्रायः सभी के घर होती रहती है, एक-दूसरे के बीच में आना एक-दूसरे से दुश्मनी मोल लेना है।

"ओफ़ ! तो क्या स्त्रियाँ भी एक दूसरे का साथ नहीं देतीं ?" मैंने पूछा। प्रेमा ने कहा—"उनके पति उन्हें अनुमति नहीं देते।" तो यह इस तरह से तो उसे मार डालेगा ! मेरी आँखों में आँसू छल-छला आए। मुझ से देखा नहीं गया। प्रेमा मुझे रोक न लेती तो शायद मैं उस भीड़ को चीरती हुई वहाँ तक जा पहुँचती।

रात भर नींद नहीं आई। सुबह स्कूल के लिए तैयार हुई तो देखती क्या हूँ वही रात वाली स्त्री पानी की बाल्टी उठाए नल पर जा रही है और उस का पति दरवाजे पर बैठा बीड़ी सुलगा रहा है। स्त्री के चेहरे पर रात वाली मारपीट का कोई लक्षण नहीं दिखाई दे रहा था। वह उत्साह से भरी नल पर पहुँची तो एक ने कहा—"मरम्मत तो बहुत हुई, फिर भी यह उत्साह ? तुम्हारी जगह मैं

होती तो बाल्टी फेंक कर चारपाई पर मुँह छिपाए लेटी रहती।"

"मुँह काहे को छिपाना है री ! मारपीट करता है तो क्या हुआ ? प्यार भी तो बहुत करता है।" यह कहते-कहते वह मुस-करा पड़ी। सुन कर मेरा तन-बदन जल उठा। ओफ़, यह स्त्री है या मशीन, जिस ओर घुमाओ घूम जाती है। एक वितृष्णा मुझ में भर आई। जी चाहा कि उसे पकड़ कर एक ओर ले जाऊँ और समझाऊँ कि जिन्दगी को पहचाने, अपने मूल्य को आँके, लेकिन दूसरे ही क्षण मैंने ठंडी साँस भरी और अपने से कहा—"घर छोड़ना आसान बात नहीं होती।" मन में जो विरोधी भावनाएँ तड़प उठी थीं, उन्हें सहला कर मैंने अपने पर ग़ौर किया। और, तुम पर भी सोचा। लोग लड़ाई-झगड़े को इतना बुरा क्यों मानते हैं ? क्या इसलिए कि जबान से अनाप-शनाप निकल जाने का भय रहता है ? या इसलिए कि कटु वाक्यों द्वारा एक-दूसरे को चोट पहुँचती है ? अगर यही ठीक होता तो जो चोट मुझे पहुँचती है उस के लिए हमारी ज़बान तो जिम्मेदार नहीं है। पर जो मुँह से नहीं निकला वह भीतर समा कर भी शान्त कहाँ हुआ ? कुछ कह डालते तो अच्छा होता, सफाई देने का अवसर मुझे भी मिलता। दोष यह मन ही न ढोता, ज़बान उसकी गवाह होती।

पर तुम तो जैसे मौन तपस्या करते हुए पैदा हुए थे। बोलने की चेष्टा भी तुमने नहीं की। अकेली की बक-झक मुझी तक रही और मैं उसी में हार भी गई। जवाब देते तो मन की उमड़-घुमड़ गर्ज उठती और फिर बरस भी लेती। तब उसके बाद मेरा हृदया-काश धुल कर साफ हो जाता। उस पर फिर से आशाओं के सितारे

झिलमिला उठते। पर यह सब मन की मन में ही रह गई। तुम समझते काश ! ऐसा क्यों सोचती हूँ और सोच-सोच कर मन भारी करती हूँ ? दुनिया में घर-गृहस्थी जुटाने के अतिरिक्त और भी बहुत से काम होते हैं। उन्हें करने से मन बहलता है और साथ-साथ लोक-सेवा का भी सौभाग्य मिलता है। क्या यह कम बात होती है ?

प्रेमा घर जाने के लिए प्रसन्न नहीं। विवाह शादी में उसे भी विश्वास नहीं है। मेरी ओर देख कर तो उसका रहा उत्साह भी मन्द पड़ गया है। पर मैं उसे समझा रही हूँ कि ज़िन्दगी एक अनुभव है, ये अनुभव सदैव कटु नहीं होते, मीठे भी होते हैं। इन्हें प्राप्त करने की हरेक को ज़रूरत रहती है। फिर पीछे हटना कहाँ की बहादुरी है !

तर्क जब बढ़ आता है तब अपने को माँ के हवाले करती हुई कह उठती है—"अच्छा माँ कहती है सो तो मानना ही पड़ेगा।" कुछ भी हो, विवाह का उल्लास उसे न हो आता हो, यह मैं मान नहीं सकती। ऐसी बात होती तो आए दिन नए डिज़ाइन की साड़ियाँ न खरीदती रहती। कपड़े-लत्ते, बनाव-शृँगार में जो उसकी रुचि है, उसे देखकर कभी-कभी मैं झुँझला उठती हूँ। पर मेरी झुँझलाहट से वह निराश नहीं होती, मुझे हँसाने के लिए कह देती है—"अरी न जाने कैसी तबियत का हो, इन चीज़ों में रुचि मेरी न होगी तो समझेगा मुर्दा दिल से पाला पड़ा है।"

"और अगर इससे बात उल्टी हुई तो ?" मैं पूछ बैठती हूँ। "तो क्या हुआ, धीरे-धीरे मैं अभ्यस्त हो जाऊँगी, फिर शुरू-शुरू में तो इन चीज़ों की जरूरत पड़ती ही है।"

"हाँ, वह तो है ही।" इस छोटे से उत्तर के साथ-साथ मुझे अपने विवाह के दिन याद आ जाते हैं, जब दुल्हन बनी मैं गठरी-सी बैठी थी, गोटे लगी लाल चुनरी इस तरह से चारों ओर लपेट रखी थी जैसे उसके उड़ जाने की मुझे आशंका थी। हाँ...सम्हाल-सम्हाल कर रखे कदम भी इस क़दर अवसर पाते उद्दण्ड हो उठते हैं, यह अक्सर मैं सोचती हूँ। कहाँ वे घड़ियाँ और कहाँ ये दिन! कितना बदला हुआ समय है और कितनी बदली हुई बातें! शायद वह सब ठीक है। हम ही बदल गए हैं। सब अपने नियमों से बंधे हैं। अनियमित जो है उस के लिए प्रकृति दोषी नहीं, दोषी हम ही हैं जो नियमों को तोड़ कर अपनी वास्तविकता की अवहेलना कर बैठते हैं। समय तो अब भी टकटकी बाँधे हमें देख रहा है और हम हैं कि ज़िन्दगी के साज़ को बदल रहे हैं। अच्छा तो अभी इतना ही।

तुम्हारी
रमा

## तीसरा पत्र

मेरे राज !

बरसात शुरू हो गई है। साँझ उदास होती जा रही है। चाहती हूँ इसे अंक में भर लूं और कहूँ—'तुम मेरी संगिनी हो।' लेकिन नहीं, मैं अपनी जिन्दगी के प्रति स्वयं एक उपहास नहीं बनूंगी।

यह मेरा ध्येय नहीं, ध्येय तो वही है जिसमें अपने प्रति संतोष अनुभव हो। भुलावे में रख कर अपने को मैं भूल नहीं बनाऊंगी।

स्कूल से आती बार मैं चौराहे वाले छोटे-से पार्क में बैठ जाती हूँ। हरी-हरी, नर्म-नर्म घास पर बैठना मुझे बहुत भाता है। जूही-चमेली की सुगन्ध से मेरा मस्तिष्क ताजा हो उठता है। छोटे-छोटे बच्चों के झुण्ड इस पार्क में चक्कर काटते-काटते जब मेरे समीप आते हैं तब मैं किसी के गाल को थपथपा देती हूँ, किसी की पीठ पर लगे सूखे घास के तिनकों को झाड़ देती हूँ, उनसे दो-चार मीठी-मीठी बातें कर के अपने को बहला लेती हूँ।

बच्चों के साथ आई हुई आयाओं की खूब चौकड़ी बंधती है यहाँ। उन की उखड़ी-उखड़ी बातें, दबी-दबी शिकायतें सुनने में बहुत आनन्द आता है। मालिकों के झूठे व्यवहार देखने को मिलते हैं। सोचती हूँ, अगर मैं कहानी लिखने की आदी होती तो बहुत से प्लाट यहाँ से ले जाती।

एक बात कहूँ ! जाने क्यों मुझे अपनी ओर से अपनी ही कहानी बन जाने का बहुत बड़ा लोभ होजाता है। चाहती हूँ, किसी कुशल लेखक की लेखनी की नोक पर मैं ही रमी रहूँ। इस छोटी-सी

जिन्दगी में बहुत चढ़ाव-उतार देखे हैं। बहुत-सी ऐसी घटनाएँ याद हैं, जो बैठे-बैठे कभी हँसा देती हैं, कभी रुला देती हैं। कभी-कभी उनके फलस्वरूप उठे उद्‌गारों के कारण मैं अपने को बहुत विचलित सी अनुभव करने लगती हूँ। पर यहाँ इस समय जूही, चमेली खिली हुई है। सुगन्ध से सारा पार्क सराबोर है। यह खिली हुई चाँदनी, यह महकी हुई रजनीगन्धा ! क्या बताऊँ राज, ये बहुत ही सुहावनी लग रही हैं।

लो पार्क में अँधेरा घिर आया है, बच्चों को गाड़ी में बिठाए आया और नौकर भी घर जाने लगे हैं। माली ने फव्वारा भी बन्द कर दिया है। मेंढकों का शोर बढ़ने लगा है और उधर मोटरगाड़ियों का ताँता बँधा है। बड़े लोग टहलने के लिए घरों से निकल आए हैं। जाने कौन कहाँ आकर बैठ जाय, इसी से चाहती हूँ लिखना बन्द कर दूँ और अपना थैला उठा घर की राह लूँ।

घर ? यह क्या कह बैठी ! पुराना सम्बोधन एकाएक कैसे याद आ गया ? घर तो घरवालों के साथ छूट गया, घर की मियाद तो चुक गयी। अब याद भर ही उस की रह गयी है, इस याद के साथ-साथ तुम्हारी सब जरूरतें भी याद आ रही हैं।

सोचती हूँ—बरसात घिर आई है, तुम्हारे गर्म कपड़ों की तहों में नेप्थलीन डालना भूल गई थी। बरसात में कीड़े न कहीं खा जाएँ ! तुम्हारे गर्म कपड़े तो वैसे भी कुछ-कुछ फट चले थे, उन की मरम्मत भी करनी थी, मोजे बुनने को सोचा था, लेकिन अधबुने बीच में ही छोड़ आई, पर अब यह सब क्या होगा ?

राज, मोह है जो अब भी घेर-घेर कर मुझे अपने में बाँधना चाहता है। चाहती हूँ, चुपके-चुपके मेरे ये अदृश्य हाथ तुम्हारे घर

की व्यवस्था करते रहें। लेकिन क्यों ? मै क्यों हैरान होती आ रही हूँ ? तुम्हारी ज़रूरतें क्या इतनी मान्य हैं कि उन्हें मैं मानती ही चलीजाऊँ ? ज़िन्दगी के साथ-साथ ज़रूरतें सभी की रहती हैं। मेरी ज़रूरतों को कभी तुमने नहीं समझा। समझने की कोशिश तक नही की। फिर क्या बात है जो मैं तुम्हें याद कर-कर के जीऊँ ?

नहीं, राज अब मुझे इस याद को उखाड़ फेंकना चाहिये। मैं वह रास्ता अपनाना चाहती हूँ, जिस में तुम्हारे साथ राह नापने तक की याद भूल बन जाये। मैं कभी सोचूँ भी न कि ज़िन्दगी में एक खेल खेला था, ऐसा खेल जिसका आरम्भ आनन्दमय था और अन्त दुःखों से भरा हुआ।

पर मैं मानती हूँ सुख की चाहना यहाँ नहीं हो सकती। सब को सुख कहाँ मिल पाता है ! विशिष्ट हैं जो अपने सुखों का विसर्जन करते हैं, ताकि उस विसर्जन से लाभ दूसरों को हो। सुख, सुख, सुख ! इन दो अक्षरों के छोटे-से शब्द में कितनी शान्ति है, कितना आनन्द है ! इसे पा लेने की आशा में हम भूल जाते हैं कि बिना दुःख का अनुभव किए यह सुख अनुभव ही नहीं किया जा सकेगा। और जब हम इस सुख को पा लेते हैं, तब सन्तोष कहाँ होता है। इस के अतिरिक्त पाने की कामना में हम बेहाल हो जाते हैं और चाहते हैं उसकी सम्पूर्ण राशि को अपने पल्ले में बाँध लें। पर कहाँ ? पाने की कामना हमारा पाया हुआ सब छीन लेती है। समझते हम तब हैं जब बाहर-भीतर से खोखले हो जाते हैं।

फिर भी अपनी नादानी मान उस पर पश्चाताप नहीं करते। इसलिए नहीं कि नादानी को हम समझते नहीं, बल्कि इसलिये कि नादानी और गलती मान कर हम अपने को दुर्बल प्रमाणित नहीं

करना चाहते । अगर चाहते तो मैं भी अपने को भूल समझ कर उस भूल में सुधार करने के लिए तुम्हारे घर लौट आती और कहती— "अकारण की भूल में तर्क नहीं चलता, क्षमा दी जाती है ।" तब क्या तुम उस क्षमा से मुझे उबार न लेते ? ज़रूर क्षमा कर देते । लेकिन कहा न, अभिमान का पर्दा सहज में फाड़ा नहीं जा सकता । उसके लिए संघर्ष और अनुभव की जरूरत होती है ।

अरे ! इधर यह अङ्गरेज कब से आ बैठा ! अभी-अभी इसी बेंच पर एक बूढ़ी महिला बैठी थी । तो क्या वह भी चली गई ! उसे बैठी देख मैं अपने को निरापद पा रही थी । यह पुरुष कितने इतमीनान से पाइप सुलगा कर पीने लगा है । कानों तक ढंपी हुई तिकोनी टोपी पहने कैसा अजीब-सा लग रहा है ! टाँगे फैलाए ऐसे बैठा है जैसे घर जाने की कोई जल्दी नहीं । ठीक है, घर जाने की जल्दी किसी को अनुभव नहीं होनी चाहिये । आखिर उन चार-दीवारियों में रक्खा ही क्या है, जहाँ साँस रुकती-सी लगे और जहाँ दम घुटता-सा लगे ? लेकिन आखिर इस खुले पार्क में, इस चौराहे पर भी कब तक बैठना हो सकता है ?

आसमान पर बादल की चादर फैलती जा रही है और बूँदा-बाँदी भी शुरू होने वाली है । जी चाहता है, इस काले आसमान का रोना और इस सब्ज़ धरती का सङ्गीत यहाँ बैठ कर सुनूँ । लेकिन नहीं, यह सङ्गीत धरती के इस अरक्षित छोर को काट खाएगा, तब उसकी भयानक कड़कड़ाहट से मैं भयभीत हो उठूँगी । इस कंप-कंपी के एहसास से खून बदन की सतह तक दौड़ने लगा है ।

लो अब तो मोटी-मोटी बूँद बरसने लगी हैं । लोग काली चिकनी सड़कों पर भागे जा रहे हैं और यह अँगरेज भी अब बरसाती

ओढ़ने लगा है। इसकी बरसाती को देख मुझे तुम्हारे घर की बरसाती याद आ गई है, जो पिछले साल तुमने शिमले में मेरे लिए खरीदी थी। आती बार उसे उठा लाती तो इस बारिश में भीगने से बच जाती। ओफ़ ! कितनी मूर्ख हूँ, क्या-से-क्या सोच जाती हूँ। यहाँ पाँव ही फिसलने को है, फिर सिर भीग गया तो क्या हुआ। भूली-भटकी राहें गीली, कीच से भरी हुई न हुई तो पाँव जमाकर चलने की बात ही क्या हुई ? सुख-आराम अब रहा ही कहाँ है जो वक्त-बेवक्त तुम्हारे घर की शान-शौकत की याद से अपना मन खराब कर बैठूँ ? इन चिन्ताओं से मुक्त हो गई तो कोई दुश्चिन्ता मुझे व्यथित नहीं करेगी। ऐसा मेरा विचार है, विश्वास की बात कौन जाने !···

पुनश्चः पार्क से उठ कर घर आई···गीले कपड़े बदले तो कमरे में आकर देखा प्रेमा सामान ठीक कर रही है, मैंने हिचकिचाते हुए पूछा—

"अरी ! कहाँ की तैयारी है ?"

"गाँव जा रही हूँ, माँ का तार आया है", उसने सामान ठीक करते हुए अपने को व्यस्त दिखलाने के अभिप्राय से तार मेरी ओर फेंक दिया और स्वयं कपड़े ठीक करती रही।

मैंने देखा, तार उसकी माँ का था। लिखा था—"जल्दी चली आओ !"

"अकेली जाओगी क्या ?" मैंने उदास होते हुए पूछा।

"और नहीं तो क्या तुम चलोगी ?"

"ले जाओगी तभी तो। चलने की बात कहूँगी।"

"अरी, यहाँ अपना ही जाना भार सूझ रहा है, तुम्हें कहाँ पल्ले

बाँध कर फिरती रहूँगी।" शासन भाभियों का है, माँ तो केवल उनकी ओर से मेरी ओर कर्त्तव्यपालन कर रही है।"

बात मेरी समझ में नहीं आई, कुछ सोचते हुए पूछा—

"भाभी के शासन की कड़ी अभिव्यक्ति किस लिये प्रेमा ?"

"इसलिये कि माँ को कह कहला कर भाभियाँ मेरे विवाह करने की उत्सुक हैं और लोक-लाज का विचार करते हुए वह मेरा उद्धार करना चाह रही हैं। माँ कठपुतली की तरह उनके इशारों पर नाच रही है।"

"तो इसमें तुम्हें क्या बुराई दिखाई दे रही है ?"

"बुराई।" उसने तीखी आवाज़ में दोहराया और झटके से बाल पीछे फेंकती हुई बोली···"बुराई नहीं तो भलाई ही क्या है ! जानती हूँ वह मेरा मंगेतर कौन है ? भाभी का ही ममेरा भाई··· जिसे न बात करने का शऊर है और न चार आदमियों के बीच उठने बैठने का सलीका।

"हूँ...तो तुमने यह रिश्ता मन्जूर कैसे कर लिया है ?"

"मन्जूर कहाँ किया है। माँ को दिलासा दिया है, माँ का दिल तोड़ना नहीं चाहती रमा। यह सब फैसला मैं वहीं जाकर करूँगी, भाभियाँ भी आखिर क्या समझती है···"

मैं चुपचाप उसकी ओर देखती रही जिसकी मुखमुद्रा रोष और तिरस्कार से विकृतसी हो उठी थी, फिर भी साड़ियों को सहेजती हुई बोले जा रही थी।

"एक समय था जब माँ ने मेरा रिश्ता पक्का कर देने की भाभी से राय ली थी, लड़का अच्छा था, शिक्षित और सुशील भी। पर उसकी माँ उसकी योग्यता का मूल्य आँकना चाहती थी···दहेज

के बदले में। माँ ने सब स्वीकार किया, उसने सोचा नकद देने को नहीं है, लेकिन गहना कपड़ा तो अब भी इतना है जिससे मेरा विवाह वह आसानी से कर सकती है। लेकिन भाभी ने भैया को सिखला दिया। और कहा—

"लड़की को देना केवल एक ही बार के लिये नहीं होता, आज उनका मुँह बन्द करेगी, कल को फिर, उसकी माँग कौन पूरी करेगा ?"

"यह बात तो ठीक कहती थी, मैंने गम्भीर होते हुए कहा"···

"ठीक क्या कहती थी, सब अपना मतलब साधने की बात थी रमा। माँ ने मुझ से पूछा···मैंने कहा यह लोभ और यह माँग तभी तक है जब तक वह लोग मुझ से परिचित नहीं होते···मैंने माँ को आश्वासन दिया था कि उनके यहाँ जाकर मैं सब सम्भाल लूँगी, लड़का मेरा देखा भाला था और मैं समझ सकी थी कि यदि सिर को पकड़ लिया जाये तो पूँछ को बस करना तनिक भी कठिन नहीं होगा। भय तो लड़के की ओर से होता है रमा...घर वालों की ओर से नहीं।"

"हाँ, यह तो ठीक है।"

पर भाभी नहीं मानी और भैया भी जिद्द पर आ गये। माँ ने रिश्ता अस्वीकार कर दिया, और उसके बाद हुआ यह कि माँ के गहने धीरे-धीरे भाइयों के हाथ में जाने लगे, और भाइयों के हाथ से वह भाभियों के सन्दूकों में बन्द होने लगे। जब सब कुछ उनके हवाले हो गया तो हम लोगों को उनके आगे हाथ पसारने पड़े। पर, रमा मुझ से हाथ पसारे नहीं गये, मैं मैट्रिक पास कर चुकी थी, इसीलिए मैंने सोचा माँ का और अपना निर्वाह करने के लिए

मुझे कहीं न कहीं काम करना ही चाहिये, और इसीलिए आज यहाँ नौकरी कर रही हूँ।

प्रेमा की बात सुन कर मुझे बड़ा दुःख सा हुआ। लेकिन···समय और अवसर की बात को अवकाश दिये बिना प्रेमा ने बात जारी रक्खी···बोली, "मैंने बी. ए. पास अपनी ही कमाई से किया है। और अब जब कि मैं कमा रही हूँ, तो उन्हें भी लगा कि विवाह के लिए कपड़े गहने मैं खरीद सकूंगी, इसी से उपकार करने की बात एका-एक तय हो गई।

इसीलिए भाभी भी लिखती रही। यहाँ कपड़ा क्या बनेगा वहीं से अच्छी-अच्छी साड़ियाँ अपनी पसन्द की बनवा लेना। खूब मत-लब की पक्की है दुनियाँ...पर रमा, भाभियाँ भी क्या समझती हैं कच्ची गोली खेलना मुझे भी नहीं सुहाता, विवाह करना भी है तो अपनी मर्जी से करूँगी इसी का फैसला करने जा रही हूँ। तुम घबराओ मत, इस मकान में तुम बेखटके से रह सकती हो।"

प्रेमा जो कह कर चुप हो गई उसी की सोच मुझे परेशान करने लगी। इस मकान में, इस गली में मैं अकेली नहीं रह सकूँगी। यह मुहल्ला शरीफ लोगों का नहीं मैंने मन ही मन सोचा···और दृढ़ निश्चय किया—यह घर छोड़ दूंगी हँसी से प्रेमा से बोली···मैं अकेली नहीं रहूँगी, मुझे गाँव में स्कूल के लिये भेजने की बात चल रही है। आज ही मिसेज श्रीवास्तव ने बताया था—वेतन भी अच्छा है और रहने का स्थान भी मिल जायेगा"।

"तो क्या तुम यहाँ नहीं रहोगी ?"

"शायद नहीं।"

"तो फिर यह मकान—इसका क्या होगा ?"

"मैं जाने से पहले तुम्हें इत्तला दे दूँगी।"

अच्छा तो ठीक है, इस कारण मेरा लौटना और भी जल्दी और स्वाभाविक हो जाएगा···जाने से पहले मुझे लिख जरूर देना भूलना नहीं।

"अच्छा, नहीं भूलूँगी।" कहते हुए मैं कपड़े बदलने साथ वाले कमरे में चली गई। तब तक ताँगा गली में आ चुका था, हम दोनों ने सामान रखा और मैंने प्रेमा को विदाई दी।

ताँगा जब गली के मोड़ पर पहुँचा तो लगा, रात भर गुज़ारनी भी कठिन है। सहारा ढूँढ़ा था वह भी छूट गया। कल स्कूल में गाँव जाने की स्वीकृति दे दूँगी। और तुम्हें जाते ही लिखूँगी।

रमा।

## चौथा पत्र

मेरे कोई,

लिखते-लिखते उस दिन रुक गई थी, भावनाओं का आवेग उमड़-घुमड़ कर मेरे हृदयाकाश पर छा गया था, सावन-भादों की उन काली अँधियारी रातों की भाँति जो बरस-बरस कर भी हलकी नहीं हो पातीं।

यह सफर बहुत लम्बा है, शायद अनुमान से भी आगे बढ़ गया है। मंजिल का कहीं निशान दिखाई नहीं देता। वह मंजिल मिलेगी, यह भी अनिश्चित है। लेकिन सोचती हूँ, अगर वह मिल भी गई तो मृगजल के ही समान होगी।

मेरी व्याकुल और सतर्क दृष्टि इस डिब्बे की सीमित चारदीवारी में घूम रही है। साथ वाली तीनों बर्थों पर के यात्री ज़ोर-ज़ोर से खुर्राटे ले रहे हैं। काश कि मैं भी इसी तरह शान्ति की नींद ले सकती!

मेरे वे स्वप्न, जहाँ रङ्गीनियाँ थीं, जहाँ बहारें खेल-खेल जाती थीं, अब स्मृतियों की धुँधली रेखाएँ खींचे इस इंजन के काले धुएँ के साथ-साथ उड़े जा रहे हैं। केवल दीख रहा है वह व्यवधान, जिस के दोनों छोर छूटते हुए दूर तक फैले जा रहे हैं। पकड़ने की कोशिश अपनी अब नहीं रही, राज!

एक विचित्र-सी अनुभूति, जिसको प्रकट करना भी मेरे लिए कठिन हो गया है, अचानक ही मन में व्याप्त गई है। साथ वाली

बर्थ पर जो युवती सो रही है, उसके लाल-लाल होंठ मीठे स्वप्न से धीरे-धीरे मुसकरा रहे हैं। उस की हर साँस में अतीत के साथ-साथ वर्तमान मुसकराता हुआ दीख रहा है। हाँ, किसी कल्पना का मीठा सम्वाद शायद वह सुन रही होगी।

राज, घर छोड़ना सहज है। आगे बढ़ने का मार्ग भी बहुत बड़े फैलाव में है, जहाँ बेखटके चला जा सकता है, पर रुकावट पड़ने पर अगर लौट आने को मन करे, तब वही मार्ग इतना तङ्ग क्यों हो जाता है कि उस पर पाँव रखते ही अनेक संकट आ घेरते हैं? परिस्थितियों का ध्यान तक हमें क्यों नहीं होता? वह प्रशस्त मार्ग हमारे मन में भय क्यों भर देता है जब हम लौटने को होते हैं?

तुम्हारे घर से निकल कर रास्ते में मैंने भी लौट जाने को सोचा था, पर मैं लौट कहाँ सकी? अभिमान-भरे वातावरण में पली थी न, और इसी अभिमानवश मैंने तुम्हारी उस सहानुभूति को भी ठुकरा दिया, जिसे मैंने समझा था कि यह एक दान है जो शायद मुझ से पचाया नहीं जाएगा, उगल दूँगी वह तमाम जो कहीं अन्तड़ियों तक समाया होगा। लेकिन अब सोचती हूँ, यदि दुनिया में मानवीय भावनाओं में छिपी यह सहानुभूति न होती तो यह धरती धधकता हुआ एक अङ्गारा मात्र रह जाती, जिस पर हाथ रखते ही जल जाने का अंदेशा रहता।

परन्तु हर चीज़ का एक अन्त होता है। एक बाँध है, एक सीमा है। तुम्हारी सहानुभूति मुझे सहर्ष स्वीकार थी, अगर उस में मेरे स्वाभिमान को धक्का न पहुँचता। तुम्हारी तमाम इच्छाएँ मुझ पर निर्भर थीं और मैं उन्हें पूरी करने में कभी भूल नहीं करती थी, बल्कि एक तरह का गौरव अनुभव करती थी।

मगर एक दिन अनायास ही सोच बैठी, अगर तुम्हारी इच्छाओं को मैं पूर्ण न करूँ तो ? ओह, इस 'तो' के अन्जाम को देखने की मुझ में लालसा भर उठी, समय-असमय मैंने तुम्हें और तुम्हारी बढ़ती हुई बाँहों को पीछे धकेलना शुरू किया, इस विचार से कि उस अपूर्णता में जब तुम अपने को अधीर होते देखोगे तब मेरे सामने हाथ फैला कर कहोगे—"मेरी अच्छी रमा, मान जाओ न।"

लेकिन अफसोस, नतीजा उल्टा हुआ ! मेरे इस प्रयास से तुम्हारा स्वाभिमान एकाएक सोते से जाग उठा। तुम अपनी इच्छा से अकुलाए नहीं। अपने मनोरथ सिद्ध करने के लिए गिड़गिड़ाए भी नहीं, वरन् पहले से कहीं अधिक मौन हो गये, अधिक संयमी और अधिक स्वावलम्बी।

अपना सब काम तुम खुद अपने ही हाथों से करने लगे। सुबह इतनी सवेरे उठ जाते थे कि कानों-कान आहट तक न मिल पाती। उठती देखती तो दँग रह जाती कि नहा-धो कर तुम पूरी व्यस्तता से अपनी प्रयोगशाला में बैठे हो।

जिस अधिकार को पाकर मैं अभिमान से भर उठी थी वह अनायास ही तुमने छीन लिया। क्या मजाल कि मुझे तुम्हारी प्रयोगशाला तक जाने का भी अवसर मिला हो। लगा इस ख़रीदी हुई सहानुभूति का कर्ज़ ब्याज-सहित लौटा देना चाहिये। झोली पसार कर भीख लेने की अपेक्षा झोली झाड़ देना अच्छा लगा, इसी से जो अपने पास माँ के दिये जेवर आदि थे, वे भी तुम्हारी अलमारी में रख आई। सच कहती हूँ वह स्वाभिमान मेरा था और यह तिरस्कार तुम्हारा। पर प्रताड़ना मेरे पल्ले पड़ी, इसी से तो घर से आना मेरा हुआ।

विधि का विधान ही ऐसा था। राज, भाग्य और संयोग के बीच कर्मों की रेखा खींचना आसान नहीं होता, फिर भी हम खींचते चले गए। कितना बड़ा धोखा है राज ! तुम्हारे मेरे बीच क्या कारण था, जो अकारण बन कर सजीव हो उठा। दबे भावों में होड़ थी, जो तूफ़ान का काम कर गई। नतीजा वही निकला जो तूफ़ान के बाद शान्त समुद्र में देखा गया है। सब किनारे आ लगते हैं, जो सफल तैराक होते हैं। डूबता वही है जो तैरने की क्षमता नहीं रखता।

अब मेरा वह तूफ़ान भी शान्त हो गया है। लहरें हिचकोले खा-खा कर अलग छिटक गई हैं, पर वे धब्बे धुल नहीं सके, जो बीच में उचट कर आ पड़े हैं।

रेल की धड़-धड़, गड़-गड़ ! ज़िन्दगी की तरह लम्बी-लम्बी मंज़िलें तय करती हुई यह भागी जा रही है। डिब्बे में सभी बेसुध पड़े हैं। रात का सन्नाटा सिसक-सिसक कर इस काले धुएँ में घुल-मिल गया है। परन्तु मेरी व्याकुलता बढ़ती ही जा रही है। जीवन का दुःख बंटता नहीं, पर प्रकट तो किया जा सकता है, यही सोच लिखे जा रही हूँ, लिखे जा रही हूँ। विचार गहरे हैं, फिर भी अटपटे-से हैं। क्रम नहीं जो कहानी के रहस्य को भली-भाँति समझा सके। परन्तु मुझे कहानी नहीं, अपना दुःख प्रकट करना है—केवल दुःख। और दुःख की रूपरेखा कौन स्पष्ट देख सका है ?

राज, हवा कितनी ठंडी है। सारा शरीर तक सिहर रहा है। लेटने को जी चाहता है। पर इन अभागी आँखों से नींद गायब हो चुकी है। चलती गाड़ी में मुझे नींद नहीं आती। शायद बचपन में झूलने को पालना नहीं मिला।

अरे यह क्या ? अब तो यह युवती भी हड़बड़ा कर उठ बैठी है। कभी वह चकित-सी मुझे देख रही है और कभी मेरे बिखरे हुए कागजों को जाँच रही है। उस की दृष्टि को लक्ष्य कर के मैंने भी कलम सम्हाल ली है। पर देखो, यह अपना सामान बाँधने लगी है। शायद उसकी मंजिल नज़दीक आ पहुँची है।

लेकिन मुझे ? मुझे तो अब भी जाने कितने पड़ाव तय करने हैं। लेकिन यह क्या ? पड़ाव आ ही गया ?

राज ! अब मुझे रुकना पड़ेगा। अच्छा, तो विदा। कभी जो कुछ थी।

वही रमा।

## पांचवां पत्र

अच्छे राज,

आज बार-बार तुम्हारी अच्छाइयाँ याद आ रही है, पता नहीं समय के प्रभाव के कारण या अपने आत्म-विश्वास के सहारे।

आकाश खुला-खुला सा है और वातावरण शान्त तथा सुखद हो रहा है। दोपहर को जो सूखी, उदास हवा चल रही थी वह बिलकुल शान्त हो गयी है, मानो जाते-जाते अपने साथ दुनिया की सभी असुविधाओं और दुविधाओं को समेट कर ले गई है।

चारो ओर शान्ति का साम्रराज्य छाया हुआ है। किसान खेत में हल चला रहे हैं। बैलों के गले में पड़ी घंटियों की रुनझुन और चलते रहट का संगीत इस सुखद वातावरण में एक रस घोल रहा है।

जहाँ मैं बैठी हूँ, खूब खुला-खुला मैदान है। स्थान परिचित और गाँव पहचाना हुआ है। उस दिन जब गाड़ी एकाएक स्टेशन पर आ कर रुकी थी तब इधर-उधर की वीरानगी देख कर मन भर आया था। लेकिन ज्यों ही बेरी का पेड़ और उस के पीछे का कुआँ दिखाई दिया, मैं एकदम चौंक पड़ी। क्या यह वही गाँव तो नहीं, जहाँ माँ के साथ किसी रिश्तेदार के विवाह में आई थी, गाँव का नाम याद न सही, लेकिन स्थान मैं भूल नहीं सकी। ये दीनू चौधरी

के खेत हैं, जिन्हें सुखदेव चौधरी सम्हाले हुए हैं। यह स्थान खूब मेरे पावों द्वारा मसला जा चुका है। तब ईख और मक्के की खूब पैदावार होती थी। मगर जमाने के साथ-साथ आदमी तो क्या, पृथ्वी भी करवटें लेती रहती है। वह बोझ अब इस स्थान पर नहीं रहा। अब हल्का हरी घास का गलीचा-सा बिछा है और उस पर अकेली बैठी हुई मैं अपने को, अपने चारों ओर की दिशा को पढ़ने का प्रयत्न कर रही हूँ।

बचपन के परिचितों में से केवल रूपा ही दिखाई दी है। कभी उस के साथ आँख-मिचौनी खेला करती थी। अब तो उस के साथ उस का पति रामदीन ही आँख-मिचौनी खेलता है। बड़े मजे की गृहस्थी है। रूपा जब उस से रूठती है तब वह देखने वाला दृश्य होता है—ऐसा दृश्य, जिस में पात्र नहीं परिचय ही होता है। पर राज, उन दोनों का झगड़ा स्थाई नहीं होता, दिलों में भेद नहीं होता। हाँ, ज़बान चलती है, सो एक-दूसरे से हार खा कर अन्त में चुप हो जाती है और तब उस के बाद दोनों एक-दूसरे से बोलने के लिए व्याकुल हो उठते हैं।

लेकिन दोनों में अभिमान तब भी भरा रहता है, कि देखें मनाने कौन आता है। जब रूपा का जी होता है तब अपने-आप में कहती है—"तरकारी क्या बनाऊँ, सब्जी वाली तो आई ही नहीं।" यह बात किसी को लक्ष्य कर के नहीं कही जाती। फिर भी संकेत जिस ओर होता है वह स्वयं उसे भाँप लेता है। और जब रूपा मान में बैठी रहती है तब दीनू कभी गाय की ओखली की ओर झाँकता हुआ कह उठता है—"खल, बिनौले तो खिलाए ही नहीं जाते।" खल की बात तो बात भर होती है, वास्त-

विकता की ओर ध्यान देती हुई रूपा बड़बड़ाती हुई कह उठती है—

"सेर भर बिनौले खिलाए हैं दुलारी को, अघाए बिना पचा लेती है तो मैं क्या करूँ ?"

तभी दीनू मुसकरा कर उस की ओर देख लेता है और रूपा बनावटी गुस्सा दिखाते हुए कह देती है—"सीधे मुँह बात करते लाज लगती है ?"

राज, ये दोनो कितने एक-दूसरे के आश्रित हैं ! देखती हूँ तो हैरान रह जाती हूँ। इन दोनों के काम में, रुचि में समझौता-ही-समझौता दिखाई देता है। पत्नी चाहती है कि पति का मान-अपमान वह खुद बनी रहे और पति की इच्छा होती है कि उस का आश्रय ले पत्नी सबल बनी रहे।

उन लोगों के हँसी-मज़ाक से दूर, अपनी निगाहों के विराम-बिन्दु से अनभिज्ञ तब मैं अपने में नहीं रहती। मालूम होता है जो सुनाई दे रहा है वही सत्य है। देखना एक गलत चीज़ है। इसी लिए चुपचाप रूपा से छुट्टी ले मैं कुएँ की जगत पर जा बैठती हूँ। कुएँ के पास ही एक बहुत बड़ा पीपल का पेड़ है, जिस की लम्बी-लम्बी छाँव दूर तक फैली हुई है। दस बरस का लड़का भीरू एक हाथ में ईख की पोर और दूसरे हाथ में पतली-सी छड़ी लिए बैलों को हाँकता रहता है।

थोड़ी-सी दूरी पर बेरी के दो पेड़ हैं। इन के आस-पास घेरे में कुछ सब्जियाँ लगी हुई हैं। जब मैं माँ के साथ विवाह में आई थी तब वहाँ बिलकुल बंजर-सा था। कुआँ खुदवा कर चौधरी ने बन्द करवा दिया था, लेकिन अब खेती-बारी खूब होती है। जहाँ किसी

समय बड़ी-सी कच्ची हवेली होती थी, वहाँ अब हाई स्कूल खुल गया है। स्कूल में जो और अध्यापिकाएँ हैं वे भी प्रायः बाहर से आई हुई हैं। उनमें से एक के साथ मेरा समझौता है। बाकी मेरी रुचि की नहीं, इससे मेलजोल भी पैदा नहीं हो सका।

तीन बजे स्कूल छोड़ती हूँ। फिर अपने कमरे में आकर कुछ खाना-पीना होता है। फिर उसके पश्चात् कुछ पढ़ाई-लिखाई। जब साढ़े पाँच बजते हैं तब मैं टहलने के लिए इधर-उधर चली जाती हूँ। लोगों के शोरगुल से दूर जिन्दादिलों की महफ़िल के विपरीत मेरी अपनी ही दुनिया होती है जिस में मैं और तुम, दो जीव होते हैं। तीसरे की गुँजाइश ही नहीं रहती।

दुनिया में हर रोज कुछ-न-कुछ नया-नयासा लगता है। एक तरह से बीतती हुई ज़िन्दगी भी समय के उतार-चढ़ाव से कुछ नई-नई बातें, कुछ नये-नये तरीके सीखती है। में अनुभव में कच्ची थी, फिर भी अभ्यास तो करना ही चाहिए था। अनुभव और आशंका के सहारे मैंने अपने को बदल दिया, अपने विचारों को नहीं। विचार बदल देती तो आज इस निपट एकान्त में तुम्हारी याद लेकर यों अकेली न आ बैठती और सिर उठा कर आसमान की ओर न देख कर सिर झुकाए पृथ्वी की ओर देखती।

बीते दिनों की याद दुखदायी हो कर भी रह-रह कर भीतर ही करवटें लेती रहती है। क्या यह थपकियाँ दे कर सुलाई नहीं जा सकती? इस खुले आसमान के नीचे इसी हरी धरती के ऊपर बैठी-बैठी मैं किस के स्वप्न देख रही हूँ, कोई मुझ से पूछे तो मैं क्या बताऊँ? क्या कहूँ कि किस के साथ बातें करने आ बैठी हूँ?

तुम जिसे लक्ष्य समझ कर बढ़े जा रहे हो, वही अलक्षित मेरे लिए क्यों हो गया ? उद्देश्य मेरा यह नहीं था। पर क्या करूँ बनी हुई बात बिगड़ गई। बिगड़ी हुई कभी बननी आसान हो जाए तो किसी से कुछ कहूँ भी।

मेरे होंठ कितने खामोश हैं ! बात करने की व्यवस्था में जैसे सर्वथा अनभिज्ञ। यह छाया, यह थिरकती गुलाबी साँझ, उड़ते हुए परिन्दे, सब मेरा ध्यान अपनी ओर खींच रहे हैं, सभी को अपने-अपने घर जाने की जल्दी है। उधर बैलों के गले में बँधी घंटियों की मालाएँ भी ढीली होने लगी हैं। किसान की पत्नी बैलों का सामान लिए जा रही है, उस घास-फूंस के झोंपड़े में भी ज़िन्दगी हँस रही है। बच्चे उछलते-कूदते हुए अपने माँ-बाप के आस-पास चल रहे हैं, उस झोंपड़ी से उठता हुआ धुआँ रह-रह कर मुझे याद दिला रहा है कि गृहिणी को परिवार के खिलाने-पिलाने की व्यवस्था करनी है। यह सोच कर मन भर आया है।

राज, उफनती हुई हाँडी अपनी भाँप बाहर फेंकने को है। तभी तो भीतर-ही-भीतर खटका हो रहा है। अपने को सम्हाल न सकी तो भीतर का सारा तत्व बाहर बह जएगा।

दूर कुछ धुँधला-सा हो रहा है, फिर भी मैं देख रही हूँ एक किसान हाथ में छड़ी सम्हाले गाता हुआ चला जा रहा है। उसके बोल समझ में नहीं आ रहे, फिर भी स्वर मधुर है और इस सुहावनी सन्ध्या में बड़ा मोहक लग रहा है। शायद वह भी अपने घर जाने की जल्दी में है, पत्नी शायद उसका इन्तजार कर रही होगी, बच्चे उसकी राह देख रहे होंगे। परिवार भी कितना अच्छा होता है राज—ज़िन्दगी की हर आवश्यकताओं से भरा हुआ और हँसी

खुशी के कहकहों से लहलहाता हुआ । पर जो ज़िन्दगी कहकहे लगा कर खामोश हो गई है क्या वह फिर से नहीं मुसकराएगी ? मैं क्यों बेहाल होती हूँ ? क्यों सोचती हूँ कि हमारी ज़िन्दगी के दिनों में कभी बहारें आई थीं और उन बहारों में कोकिलें कूकी थीं और बहार के रुख के साथ-साथ वे कोकिलें भी कूक कर उड़ गईं, दूर उन देशों में जहाँ उन का राग अब खामोशी बन कर जमीन से आसमान तक फैल गया है । लेकिन नहीं, मैं गलत सोचती हूँ—बहारें तो फिर भी आएँगी, शायद कोकिलें भी लौट आएँगी, पर हो सकता है उस राग को सुनने वाले पुराने नहीं होंगे, कोई नए ही आएँगे । तब क्या उन रागों को हम भी सुन सकेंगे ? नहीं, शायद नहीं ।

पर दूसरों के सुख से मुझे मतलब ? किसी और की बहार से मुझे सरोकार ? जहाँ हूँ, जिस स्थिति में हूँ, मुझे वहीं कुछ देखना है, वहीं कुछ सुनना है । यहाँ भी तो राग हैं—कोकिलों के न सही, झींगरों और टिड्डियों के ही सही । राग तो हैं ही, जो इस खामोश वातावरण को चंचल बनाने की कोशिश मे है ।

अरे, यह क्या मन्दिर का घंटा बज रहा है ? याद आया, उस दिन ऊँचे सिंहासन पर पंडित जी विराजमान थे, उनके आस-पास उनके भक्त-गण बैठे थे । चौधरी सुखदेव भी थे । रामायण का पाठ वह सुना रहे थे या नहीं, यह तो भगवान ही जानें, पर आँखें उन की हर आने वाले व्यक्ति पर जमी थीं । आने वाले को चुपके से देख लेने के पश्चात् जिस ढङ्ग से वह चुपके से आँख मूँद कर रामायण की चौपाई के स्वर में झूमते रहने का नाटक कर रहे थे, उसे देख मैं मन-ही-मन हँस रही थी ।

बात यह नहीं थी कि केवल वही आने-जाने वाले को देख रहे थे। पंडित जी भी इस विधि के कम रसिक नहीं थे। रामायण पर आँखें जमाते हुए भी वह जिस खूबी से आने वालों की पहचान कर रहे थे, वह देखते ही बनता था।

बालकवृन्द, बूढ़े, युवक सभी उनकी रसीली वाणी से प्रभावित हो रहे थे। सीता बनवास का अध्याय शुरू होते ही उनकी वाणी में कातरता और गम्भीरता भर आई थी। उस समय की दशा का वर्णन करते हुए वह अपने धीरज को सम्हालने में असमर्थ-से हो रहे थे। इधर अपने चारों ओर मैं देख रही थी, सभी ओर करुणा की अविरल धारा बह रही थी। रूपा की तो रोते-रोते घिग्घी बंध आई थी और उधर पंडित जी के गाल आँसुओं की धार से चमक रहे थे।

एक अजीब तरह की खामोशी छा गई थी। उस बंधे हुए संयत वातावरण में भी सुखदेव की आँखें चारों ओर की स्थिति का निरीक्षण करती हुई दिखाई दीं।

मैं सकपका गई। उस बँधे वातावरण से मैं कहीं दूर थी। सुन कर, अनुभव कर के भी रोने का साथ नहीं दे पा रही थी। एकाएक मुझे ध्यान आया कि लोग मुझे कैसी कठोर-हृदया नारी समझते होंगे।

पर राज, झूठ नहीं कहती, सच ही उस वातावरण से मुझे भाग जाने की जरूरत महसूस हो रही थी, पर समय इतना सीमित था कि उठने का उपक्रम करते हुए भी मैं उठ नहीं सकी। सिर झुकाए हुए बैठी रही। और जब अन्तिम चौपाई पढ़ी गई तब मैं भी उठ बैठी। आरती भी हुई, चौधराइन बड़ी-बड़ी परातों में बूँदी का

प्रसाद लिए पंडित जी के पास नतमस्तक हो कर बोली—"पंडित जी, इसे अपने पवित्र हाथों से उपस्थित जनता में बाँट दीजिये।"

पंडित जी प्रसन्न हो गए, बूंदी से हाथ भरते गए और लोगों की हथेलियों पर धरते गए।

जब वह मेरे पास आए तब बोले—"ओह, मास्टरनी जी को कागज में प्रसाद देना चाहिए।" मैं हँस पड़ी, बोली—"नहीं पंडित जी, इसकी क्या जरूरत है।" मेरी हँसी से न जाने उन्हें क्या सूझी। प्रसाद की भरी हुई मुट्ठी उन्होंने मेरे हाथ की ओर बढ़ाई और धीरे से मुसकरा कर कहा—"कहीं प्रसाद गिरा न देना।" तभी मैंने महसूस किया जैसे मुट्ठी खोलते समय उन्होंने जान-बूझ कर मेरी अंगुलियों को छू लिया हो। मैं भीतर-ही-भीतर तिलमिला उठी। प्रसाद सचमुच नीचे गिर पड़ा। मैं मुड़ी तो रूपा ने चिकोटी काटी—"अरी डर गई ?"

"नहीं तो।" इतना कह कर मैं जल्दी से लौट आई। लेकिन रात भर रह-रह कर पश्चाताप करती रही कि मैं वहाँ गई ही क्यों ? मुझे कोई निराश्रय समझे, इस से बढ़ कर मेरा और कोई अपमान नहीं हो सकता। राज ! मैं किसी से क्या कहूँ कि यह मेरी असल की स्थिति नहीं, मेरे पास भी वह सबल आश्रय है जिस का नाम ले मैं औरों के आगे अभिमान से सिर उठा सकती हूँ।

अच्छा तो अब चलूंगी। अँधेरा हो गया है। पीपल के पेड़ पर उल्लू जा बैठा है। बड़ी भयावनी-सी आवाज आने लगी है। अब उठना ही चाहिए।

तुम्हारी वही।

## छठा पत्र

भूले साथी,

उस दिन सोचा था कि अपने अन्तर को टटोलूंगी और उससे पूछूंगी कि कौन-सा अभाव है, जिसे पूरा करने के लिए मैं विजय की उपस्थिति को वरदान के रूप में देखती हूँ। यह विजय है कौन? समझ नहीं पाती कि यह मेरे कौन-से अभाव को पूरा करेगा। पैसे का अभाव? वह नहीं है मुझे। किसी के आश्रय के बिना भी बेखटके चलती जाऊँगी, इसका भी मुझे पूर्ण विश्वास है। शारीरिक भूख से मैंने कभी अपने को निर्बल होते महसूस नहीं किया। हृदय की भूख है, सो समझती हूँ कि अगर अपने को व्यस्त रखती रहूँ तो उसकी जलन अनुभव न होगी, जी लगा रहेगा। अकेली रहती थी तब शान्त थी, तुम्हारी स्मृति को अपनी निधि मान कर सन्तुष्ट थी। परन्तु क्या कहूँ इस समिति के कार्यकर्त्ताओं को, जो कहीं से विजय को पकड़ लाए हैं। उसके आने पर जाने क्यों मैं अपने को कमज़ोर महसूस करने लगी हूँ।

नाम उस समिति में लिखवा बैठी थी तभी से उसका संग बना आ रहा है। यह समिति ग्रामोद्धार के लिए बनाई गई है। इस गाँव के मुखिया सुखदेव इस समिति के प्रधान हैं। विजय उनका दूर के रिश्ते में भतीजा लगता है। कुछ समय हुआ विलायत गया था, लेकिन चार महीने बाद ही लौट आया बिना वकालत पास किए। चाचा ने पूछा तो बोला— "पढ़ कर क्या सीखना था, चाचा जी,

देख कर जो समझ सका हूँ वह पढ़े से कम नहीं।" चाचा ने डाँटते हुए पूछा—"और इधर जो सात हजार पर पानी फिर गया, वह ?" विजय क्षण भर चाचा की ओर देखता रहा, फिर धीरे-से बोला—"पैसे व्यर्थ नहीं जाएँगे चाचा, दुगने फूलेंगे।" और उसी दिन से इस गाँव में एक नयापन आ गया है। घास-फूस के झोंपड़ों के इर्द-गिर्द पक्की नालियाँ खोदी जाने लगी हैं। घरों के गन्दे पानी से जो आस-पास गन्दगी फैली थी, उसे साफ करवाना शुरू कर दिया गया है। विजय दोपहरी की कड़ी धूप में भी बड़े यत्न से परिश्रम करता है। साँझ घिर आती है तब कहीं उसे हाथ-मुँह धोने की सुधि आती है। कुछ खा-पी कर जब सुखदेव के यहाँ से टहलने को निकलता है तब मेरे यहाँ भी आ निकलता है।

कल शाम को विजय बहुत देर तक मेरे यहाँ बैठा रहा। बातों ही बातों में उस दिन मुझे मालूम हुआ कि वह चित्रकार भी है। कहता था तुम्हारा चित्र भी बनाऊँगा, लेकिन मैं सोचती हूँ कैसी बच्चों की-सी बातें करता है। कहता था, दो दिन रहेगा मेरे साथ, इस घर में। दो दिन, वह कहीं मेरे यहाँ रह सकता है ? और मुझे भी तो विश्वास नहीं कि मैं उसके सामने बैठी ही रहूँगी। मैंने उसे इन्कार कर दिया है राज ! लेकिन अब जाने क्यों जी चाहता है कि उसके आगे फिर उन्हीं बातों को दोहराऊँ और कहूँ कि मुझे बैठने में दिक्कत न होगी। जाने क्यों उसका पास बैठना मुझे अच्छा लगने लगा है।

कल रात जब वह मुझ से विदा हुआ तब मैं सोचती रही, यह क्या लेने आता है मेरे पास ? कुछ नहीं पाता जब, तब आता ही क्यों है ? पर कहाँ ? मैं कुछ न देती हुई भी लुटी-सी जा रही हूँ।

अपना दृढ़ निश्चय कमज़ोर बनता जा रहा है । यह मेरी कैसी विवशता है ?

चाहती हूँ उसे न देखूं, न समझूं और न समझने की कोशिश करूँ, परन्तु भीतर न जाने कौन खार खाए बैठा है, जो मुझ से विरुद्ध होकर कहीं और भाग-भाग जाना चाहता है और मेरे निश्चय की जड़ों को झकझोर देता है ।

रात भर सो नहीं सकी । मालूम होता था, जैसे उसकी आँखें मुझे घेरे ले रही हैं । मैं अपने चेहरे को हाथों से ढाँपे तुम्हारी ओर भाग आना चाहती थी, परन्तु देखती थी तुम्हारी बाहें मेरी ओर बढ़ कर भी मुझे आलिंगनबद्ध नहीं कर पातीं ।

राज, यह कैसी तृष्णा है जो पानी दिखा-दिखा कर मुझे उसे पीने से दूर धकेल देती है ? तुम से विदा हुए पूरे दो बरस होने को आए । इन दो वर्षों में कितनी याद आई तुम्हारी, यह मैं ही जानती हूँ । अब इस याद ने मुझे रुला-रुला कर सुला दिया है । पर इस निगोड़ी नींद में अब यह जगाने वाला आ पहुँचा है । जी बार-बार हो आता है कि क्षण-भर के लिए दुनिया का तमाम सुख अपनी आँखों में भर लूँ । लेकिन सोचती हूँ इस सुख को पा लेने के बाद क्या होगा, क्या विजय मेरा साथ निभाएगा ? क्या मैं भी उस सुख को संजो कर रख सकूंगी ? नहीं । यही तो मेरा अभिशाप है । यही तो मेरी कमजोरी है । वर्तमान के सुख में मैं भविष्य के लिये काँटे बोना नहीं चाहती ।

पर अकेले भी मन घबरा रहा है । इस निबिड़ अन्धकार में एक चिर परिचित-सी हूक उठ रही है । मैं भी कैसी हूँ ! खोए हुए के लिए बेचैन हूँ कि उसे पा लूँ । जो पास है, सुगम है, उसे दोनों

हाथों धकेल रही हूँ। कैसी लाचारी है, कैसी निर्बलता है। मैं चाहती क्यों नहीं कि उसी को मान लूं जो मिलने को है ?

सच राज, विजय की बातें बड़ी अजीब-अजीब सी हैं। कल जब मैंने उससे पूछा कि इतनी रात बीते क्यों आए हो, तो बोला—"तुम्हें देखने को जी चाहता था।" मैं कपड़ा मुँह में डाले हँस पड़ी, बोली—"कहते क्यों नहीं कि देवी के मन्दिर में दर्शन करने चला आया हूँ।" वह कुछ कठोरता के साथ मुसकराया और मुझे देखते हुए बोला—"देवी के दर्शन करके भी देवी को पाना कठिन होता है। रमा, दर्शन का लोभ छोड़ मुझे केवल दृष्टि आक्षेप करना है, ताकि देखने के साथ-साथ देखते जाने का उत्तर भी पा सकूं।"

मैं ठगी-सी, आवाक-सी, खोई-सी उसी को देखती रही, देखती रही, तब तक, जब तक कि मेरी आँखों से वह ओझल नहीं हो गया।

एक बात कहूँ राज ! सफर अकेले में खटकता है, भय होता है कि बीच में ही कहीं खो न जाएँ। साथी की याद हरदम रहती है। मुझे याद है पिता जी के मरने के बाद जब मैं इस गाँव में माँ के साथ आई थी तब इस छोटे-से स्टेशन पर हम दोनों बहनों को साथ लिए माँ प्लेटफार्म पर बैठी काँप रही थीं। अँधेरे के भय से नहीं, उस अलाव की चौकड़ी के भय से जिसमें स्टेशन मास्टर के साथ कुली भी आग ताप रहे थे।

हम तीनों तब एक टूटी-फूटी बैंच पर बैठी थीं। आठ बजे वाली ट्रेन हमारे पहुँचने से दस मिनट पहले ही छूट चुकी थी और इसलिए अब दूसरी गाड़ी की इन्तज़ार हम कर रहे थे, जो सुबह चार बजे जाती थी। माँ रह-रह कर उन लोगों की ओर देख लेती

थीं, फिर फुसफुसा कर कह उठती थीं—

"बड़ी भयानक रात है, दुष्ट बीतने का नाम नहीं लेती।" राज, तब भय क्या चोरों का था ? नहीं, तब जो न समझी थी वह अब जान रही हूँ। स्त्री को भय जिस चीज का होता है वही तो वह सम्पत्ति है जिसे वह लुटवाना नहीं चाहती। पर अपनी खुशी से लुट जाने में अपने को संतुष्ट क्यों समझती है ?

अगर यही न होता तो न तुम्हारी ही याद आती और न विजय की आवश्यकता ही महसूस होती।

तुम्हारी याद से ही नहीं, बल्कि अब तो विजय की आवश्यकता से भी अधीर हूँ। इस अधीरता और बेकली का अर्थ क्या है ? खोजते-खोजते थक गई हूँ। और इस खोज में अर्थ के शब्द को ही खो बैठी हूँ—पानी के बहाव में बहते हुए उस बहने वाले की बेबसी की भाँति जो किश्ती के डूबने पर किश्ती को याद नहीं करता, बल्कि बहाव में से बचने के लिए तिनके का सहारा ढूँढता है ताकि किनारे तक पहुँच सके।

तुम्हें खो कर जिसका आश्रय ढूँढ रही हूँ उसके साथ-साथ जिन्दगी का सफर तय करती जाऊँ, यही सोचती हूँ। लेकिन मैं जानती हूँ कि वह सफर नहीं होगा। इसलिए विश्वस्त नहीं हूँ। जब निश्चय कर सकी तब तुम्हें सूचना अवश्य दूँगी।

रमा।

## सातवां पत्र

राज मेरे,

गाँव में एक नई चहल-पहल छाई हुई है। पूर्णिमा के दिन कितनी ही शादियाँ होने वाली हैं। चैत का महीना खत्म होने को है। पिछले हफ्ते से ही ढोलक पीटी जा रही है। लड़कियों की तालियाँ पीटने की ध्वनि सुनकर मैं कमरे से बाहर खुली छत पर आ गई हूँ। आवाज़ सुरीली और मोहक है। गाने की कड़ियाँ हैं—

"पिया डोला मँगवा दे दुल्हिन के लिए
जीया तड़पाए तोरे मिलन के लिए।"

इन कड़ियों के खत्म होते ही दूसरी लड़की कूक उठती है—

"मोरी मायके में सारी जवानी कटी
अब मैं बूढ़ी हुई पी के देस चली।"

राज, दुलहिन की इच्छा डोले में चढ़ कर जाने की है, यह सुन, मैं दबी ज़बान से हँस पड़ी हूँ। लेकिन दूसरे ही क्षण याद हो आया—कहार डोला पकड़े चले जा रहे हैं। उसके हिलने के साथ-साथ मेरा हृदय भी झूम रहा है, लेकिन क्या उस समय उस डोले को मँगवाने के लिए मैंने मनौती मानी थी? नहीं, बिल्कुल नहीं। बल्कि मुझे याद है कि उस समय उसमें बैठते हुए मैं बुरी तरह लजा रही थी। तुम्हारी माँ की इच्छा थी कि बहू डोले में बैठ कर घर आए। डोला आया और मुझे ले गया। परन्तु तब यह न सोचा था कि जिस डोले में बैठ कर तुम्हारे घर आना हुआ है, उस डोले

में आने में लक्षण शुभ नहीं। आती बार तो तुम मुझे पहुँचाने भी नहीं आए। क्या मैं तुम्हारे यहाँ अकेली ही आई थी ? काश कि मेरी जिन्दगी मायके में ही कट रही होती ! काश मैं बूढ़ी होकर भी कुमारी रह जाती, ताकि प्रियतम के घर जाने की साध खत्म तो न होती ! सोचती हूँ तुम्हारे साथ रह कर मैंने क्या पाया ? मैं तुम्हारी प्रेयसी भी बनी। मैंने पत्नीत्व को भी निभाया, मालकिन बन कर तुम्हारे घर की व्यवस्था भी की। पर इतना सब करके भी मेरा जीवन रीता ही रह गया। मेरी झोली में वह भीख तब भी तुमने न डाली, जिसे पाकर मैं मातृत्व का दावा कर पाती। आज यह सूनी गोद रह-रह कर कचोट रही है। अगर मैं माँ होती तो तुम से यों अलग होने का अवसर न आता। हम दोनों के बीच वह रास्ता नापता चला आता और तुम्हारी टाँगें पकड़ कर कहता—"माँ का आँचल नहीं छोड़ूंगा, नहीं छोड़ूंगा।" और तब तुम भी कहते—"बच्चे के बिना मैं नहीं रह सकूंगा।" और उधर मैं भी तपाक से कहती—"बच्चे के बिना मैं कैसे जीऊँगी।" तब उसी बच्चे का बहाना लेकर हम दोनों एक सूत्र में बँधे चले आते। कभी रोष प्रकट करने को जी चाहता तो कह उठती—"सम्भालो अपना बच्चा, अब यह मेरे बस का नहीं।" तब तुम उस रोष पर अनेक मुसकानें बिखेर-बिखेर देते। बच्चे को उठाने के बहाने तुम जाने-अनजाने मेरा स्पर्श करते हुए कनखियों से कहते—"लाओ मेरे बच्चे को।"

कितना अच्छा लगता तब, इसकी तुमने कभी कल्पना भी शायद न की हो। तुम्हारे वही मित्र, जो अक्सर हमारे यहाँ आया करते थे, उस शाम जब आए तब उनके साथ उन का छोटा बच्चा सुनील भी था। सुनील की आयु दो बरस की रही होगी। तुम

अपने काम में व्यस्त थे, उस दम्पति को ड्राइंग-रूम में बिठला कर मैं सुनील को गोद में उठाए तुम्हारे कमरे में आई। देखा, तुम्हारा मुँह दरवाजे की ओर था। पर्दे के हिलने की आवाज से तुमने अपनी आँखें ऊपर उठाई और एकाएक मुझे सामने खड़ी हुई देख कर हैरान से मेरी ओर देखने लगे। कुछ क्षण तक देखते रहने के पश्चात् तुमने मुसकरा कर कहा—"बच्चे को गोद में उठाए तुम बहुत भली लग रही हो।" मुझे एकाएक लज्जा का अनुभव हुआ और मैंने सुनील को गोद से नीचे उतार दिया।

तुमने कहा—"क्यों, शरमा गईं?" जाने क्या सूझी मुझे कि सुनील को वहीं छोड़ मैं दरवाजे के बाहर आ गई। तुम्हें याद नहीं होगा। जानते हो उस समय तुम्हारे मित्र और उनकी पत्नी ने तुम से क्या कहा था? उन्होंने कहा था—"पत्नी बच्चे को गोद में उठाने का अभ्यास कर रही है और पति महाशय उसे पास बिठलाना सीख रहे हैं।" यह हमारे विवाह के साल भर के बाद की बात है।

जब कभी बाजार जाती तब खिलौनों की दूकान पर खिलौने देख खड़ी हो जाती। सोचती, कभी मैं भी इन्हें खरीदने आऊँगी। क्या बताऊँ, छोटी-छोटी कितनी तरह की चीजों को खरीदने की मैंने कल्पना कर रखी थी।

दिन गुजरते गए, कल्पनाएँ भी बढ़ती गईं। पर मन की बात मन में ही रह गई। फिर कुछ दिन बाद मैंने भी तो इस कल्पना का गला घोंट दिया। जाने क्यों, घर-गृहस्थी में बँधने का उल्लास धीरे-धीरे कम होता गया। लोगों को देखती तो सोचती क्या व्यर्थ के झमेले खड़े कर रखे हैं। पड़ोस में बच्चों का शोर सुनती तो खीज पैदा हो जाती। किसी माँ को बच्चे को पीटते देखती तो

घृणा से मुँह बिचका लेती। सोचती, कितनी अजीब है, अपने पाँवों पर खुद कुल्हाड़ी मार रही है।

और उस दिन तो मेरे क्रोध का पारावार न रहा था, जब मैं बाहर से आ रही थी और किसी बच्चे ने मेरे ऊपर पत्थर फेंक दिया था। मैं जानती थी कि पत्थर जान-बूझ कर नहीं फेंका गया, फिर भी मैं बच्चे को माफ नहीं कर सकी। लेकिन आज, आज इस आधी रात के समय अकेला होना बुरी तरह से खटक रहा है। एक छोटा-सा आश्रय अगर मैं ले सकती तो तुम्हारी याद इस तरह से न रुला देती। अपने मन की राहत के लिए मैं बच्चों को सीने से लगा कर तुम्हारी शिकायतें करती और कहती—"राज से हम दोनों मिल कर बदला लेंगे।" तब पलड़ा भारी हमारा होता। वह यह मेरा है, यह केवल तुम्हीं न समझते, उसका साझीदार वह बच्चा भी होता। लेकिन अफ़सोस अब क्या रखा है इन बातों में! मूल ही नहीं रहा तो ब्याज के लिए कैसा रोना?

शायद अभावग्रस्त होकर मरण की चाहना करने के लिए ही मैंने जन्म लिया था। पर नहीं, अभाव में मरण की कामना करते हुए भी हमारा जीवन अभाव पर ही तो टिका हुआ है। यह अभाव जब अभाव नहीं रहता तब मनुष्य के जीने के सभी उल्लास, सभी चेष्टाएँ समाप्त हो जाती हैं। जिन्दगी मंजिल का नाम नहीं, सफर का नाम है। सफर खत्म हुआ नहीं कि जिन्दगी किनारे आ कर लग गई।

परन्तु मुझे किनारे नहीं लगना है। लगना होता तो तुम्हारी याद न आती। जिस उत्सुकता को संयम में बाँध रखा था वह मुझे पसन्द ही कब था? संयम और जिन्दगी दोनों एक-दूसरे से विपरीत

व्यवस्थाएँ हैं। एक में निराशा है, तो दूसरे में आशा। एक में बाँध है तो दूसरे में गति, एक में सीमा है तो दूसरे में फैलाव। क्रिया बिना कर्म की आस्था ही क्या है? घुटन को निश्वास द्वारा बाहर न फेंका जाए तो उस घुटन की पहचान ही कैसे हो?

संयम की मर्यादा में बँधा हुआ मनुष्य, मनुष्य नहीं कठपुतला है और कठपुतले की तरह जिन्दगी बसर करना मेरे बस का रोग नहीं।

उलझनें पैदा हों और उन्हें सुलझाने का अवसर न दिया जाए, यही तो मुझे सहन नहीं हुआ। नहीं तो तुम समझते हो कि अपने पर प्रहार करके अपनी ही चोट से आहत होना कोई पसन्द कर सकता है?

पर मैंने वही किया जिसे मैं समझ रही थी। दुनिया इसे ठीक नहीं समझती। पर इससे क्या? कभी किसी ने शायद अपनी ओर से कुछ गलत करने का प्रयत्न नहीं किया होगा, फिर भी जो ठीक समझते हुए परिणामस्वरूप गलत हो जाता है उसका क्या किया जाए? मन में स्वयं विश्वस्त नहीं हूँ, फिर भी तर्क द्वारा अपने मन और मस्तिष्क का सन्तुलन ठीक रखना चाहती हूँ, क्योंकि ऐसा करने से मैं एकाएक निढाल नहीं हो जाऊँगी कमजोर और अशक्त बन कर दूसरों के आश्रय को ताकने का साहस अब मुझ में नहीं रहा—यह क्या ढोलक की आवाज़ बन्द हो गई, शायद वह लोग सोने की तय्यारी में हैं.....अच्छा राज—फिर मिलेंगे।

तुम्हारी प्यारी वही वही

रमा।

## आठवां पत्र

मेरे राज,

इस गाँव की बहुत सी बातें तुम्हें अभी नहीं बताई। जी मेरा कुछ लगा हुआ है। अतिरिक्त इसके कि कभी कभी याद तुम्हारी ही रुला जाती है। वैसे यह गाँव एक अजीब तरह की मस्ती लिये हुए है। शहरों की सी अपूर्णता यहाँ कुछ भी महत्त्व नहीं रखती।

मैं मानती हूँ यहाँ गन्दगी बहुत है, लोग असभ्य भी हैं, पर जो देखने को शहरों में नहीं मिलता वह यहाँ देखकर मन प्रसन्न हो जाता है। ज्येष्ठ का महीना शुरू हो गया है। वर्णों के फल पक गये हैं इन फलों को पीलू कहते हैं। लू चलती है तो इन फलों में मिठास पैदा हो जाती है। और जब यही फल पक कर सूख जाते हैं तो इन्हें कोकड़ कहते हैं। पेड़ की एक एक टहनी पर पकड़े यह नँगे धड़ंगे ग्रामीण बालक रस्सी के सहारे मिट्टी के छोटे-छोटे मटके बान्धे बड़ी उत्सुकता से उस फल को तोड़ तोड़ कर मटकियों में डालते हैं और उसे आस-पास के गाँवों में बेचते हैं। कितने कम पैसे उन्हें मिलते हैं यह वह लोग शायद जान भी नहीं पाते। तभी तो दुनिया की चिन्ताओं से दूर है, अमीरी गरीबी की दुनियाओं से अनभिज्ञ। कल दोपहर को मैं विजय के साथ उन झोंपड़ों को देखने गई थी जिनकी व्यवस्था वह करवा रहा है। धूप बहुत थी और मुझे कुछ थकान भी मालूम हो रही थी। विजय को वहीं छोड़ मैं पेड़ के नीचे आ बैठी, बाजरे की रोटियाँ हम साथ ले आये

थे और तय किया था कि शाम को आस-पास वाले खेतों को देखने भी जायेंगे।

बड़ी देर मैं प्रतीक्षा करती रही, भूख बहुत लग आई थी पर अकेले में खाया नहीं गया। एक अनजानी प्रतीक्षा में उत्सुक सी हो रही थी, कि तभी देखा विजय कच्ची सड़क की धूल उड़ाये चला आ रहा है। ऊपर सूर्य तप रहा था और नीचे धरती जल रही थी। उसकी चप्पलें उखड़ उखड़ आई थीं। उड़ती धूल में भी उसका चेहरा दमक रहा था तपते सोने की भाँति। उसके हाथ में एक लोटा था, पास आया तो बोला—

किसनू की बहन मुझे बहुत मानती है। धूप पर खड़े हुए देखा तो अपने भाई को मेरे पास भेज दिया।

'वह किस लिये' मैने पूछा।

यही कि भीतर झोंपड़ी में आ जाओ और जब मैं गया तो लस्सी का कटोरा भर कर मेरे सामने रख कर बोली, 'बड़ी अच्छी लस्सी है, पी लो न।'

'हूँ' सिर झुकाये मैने बात का समर्थन किया। लेकिन वह लस्सी मै लोटे में डलवा कर साथ लेता आया हूँ। इसमें मक्खन भी है। रोटियां निकालो जल्दी से बड़ी ज़ोरों की भूख लगी है।

मैंने रोटियाँ निकाल कर तौलिये पर रख दीं, उसमें भुने हुए आलू की भुरजी थी, विजय ने भुरजी नहीं ली। मक्खन के साथ रोटी खाते हुए बोला—

आज तो यह मक्खन बड़ा अच्छा लग रहा है।

'इसलिये कि इसे एक किसान की लड़की ने दिया है। मालूम होता है लड़की तुम्हें खूब पसन्द है।'

वह जोर से हँस पड़ा, बोला— यही बात पारो ने कही थी, जब मैं लस्सी वहाँ न पीकर लोटे में डलवा रहा था तो उसने पूँछा था, 'घर ले जाओगे या मास्टरानी को पिलाओगे।'

मैं चौंक उठी, 'उसे कैसे मालूम ?'

'उसके भाई रामू ने बताया था कि मास्टरानी पेड़ के नीचे बैठी है।'

'ओह ! तो यह छोटे छोटे बच्चे भी मेरे लिये.....

विजय हँस पड़ा और बात काटते हुए बोला : तो इसमें घबराने की क्या बात है ? तुम्हीं तो कहती थी, कि दुनिया से मुँह छिपाना कायरता है।

मैं जल्दी से पकड़ में आ गई थी सो आगे कुछ कहते नहीं बना।

रोटी के टुकड़े तोड़ती रही और उसे मुँह में डालती गई, पर अपने विषय में लोगों में चर्चा की बात हर तरह से मुझे काट रही थी, उसी सोच में मैंने कितनी रोटी खाई मालूम नहीं, जब सब रोटियाँ समाप्त हो गई तो मेरी तन्द्रा टूटी, विजय ने गिलास में लस्सी उड़ेलते हुए कहा—

'पी लो गर्म हुई जा रही है।'

'पीने को मन नहीं।' मैंने ठंडी साँस लेते हुए कहा—

'क्यों मन क्यों नहीं, पारो की दी हुई है इसीलिये ?' बात सत्य थी, पर मुझ से सही नहीं गई, बोली,

'दूसरों के यहाँ की मुफ्त चीज को खाने में मुझे अच्छा नहीं लगता।'

'तो पानी यहाँ नहीं मिलेगा।' लोटे को मुँह से लगाते हुए

विजय ने कहा और लस्सी गटागट पी गया। मेरा गिलास ज्यों का त्यों पड़ा था।

'मेरा ख्याल है थोड़ी देर यहाँ सुस्ता लिया जाये।'

'तुम लेट जाओ, मुझे जरूरत नहीं अनुभव हो रही' मैंने पुस्तक निकाली और पेड़ के तने की ओट लेकर उसे पढ़ने लगी।

लू चल रही थी, पर उस पेड़ की छाया शीतल सी मालूम हो रही थी, ऊपर से फल गिर रहे थे। देखने में अच्छा लग रहा था।

लेटते ही विजय को नींद आ गई, वह खर्राटें ले रहा था। इधर दोपहरी की धूप अपनी चादर उठाती जा रही थी और पेड़ के साये लम्बे होते जा रहे थे।

अन्त में विजय अंगड़ाई लेता हुआ उठ बैठा। और बोला—

'बड़ी देर हो गई, घड़ी में पाँच बजने को हैं।' मैंने जवाब नहीं दिया।

'चलो चल कर कुएँ पर हाथ मुँह धो लें, पास वाला कुआँ चल रहा है।'

मैं चुपचाप उठ बैठी, उसने कुएँ पर हाथ-मुँह धोया, उसके शीतल जल से आँखों को बहुत सुख मिला। फिर हम दूसरे खेत की ओर चल पड़े।

मोटी खादी की मैंने धोती पहन रखी थी। दोपहर को जो अच्छी लग रही थी। वह अब चलने में भारी दीख रही थी। आजकल मोटी खादी की धोतियाँ खरीद रखी हैं राज, यही तन की रक्षा कर रही हैं, क्योंकि अब शान-शौकत को तिलाँजलि दे चुकी हूँ।

खेत पर गये, दूसरा गाँव साथ ही था, विजय ने कहा चलो

चल कर कुछ खा पी लिया जाय। 'अन्धेरा घिर आया है और घर भी पहुँचना है।'

'कोई बात नहीं, रात अन्धेरी नहीं चाँदनी ही है और अभी चाँद निकला समझो।'

गाँव पहुँचे, वहाँ दूध के सिवाय कुछ खाने को नहीं मिला, वहाँ से लौटे तो चाँद निकल आया था, और उसकी चाँदनी मस्ती से झूम उठी थी। सहसा विजय का स्वर भीग उठा।

मेरे पास खड़ा होते हुए बोला : 'कितनी सुन्दर रात है, जी चाहता है घर न लौटें।'

'तो क्या घूमते ही रहें।' मैंने सहमते हुए कहा—

'हाँ, घूमना बहुत अच्छा लग रहा है, इधर देखो इस मैदान की ओर, चाँदनी मचल रही है, और उधर खेतों की सूखी फसलें भी इठला रही हैं। जिन्दगी का सार सब यहीं दीख रहा है रमा।' कहते कहते उसने मेरे चेहरे पर आँखें गड़ा दीं।

मैंने उभरी उभरी मस्ती से भरी हुई आँखें देखीं और जवाब ढूँढने के लिये दिल की ओर झाँका, पलकों के साये क्षण प्रतिक्षण ऊँचे उठते फिर नीचे गिर जाते।

'हाँ, कहने का साहस नहीं था और इन्कार करने को मन नहीं हुआ, मेरी आँखें कुछ कह गईं, विजय ने हाथ पकड़ा और जोर देकर बैठ जाने को कहा—

मैं अपने से कह रही थी, "इस खिलाड़ी की बाज़ी में, क्यों अपने को दाँव में लगा रही हूँ। मैंने अपने को सम्भालने की कोशिश में कहा :– 'और बोली विजय से,

'बैठने में अच्छा नहीं लगता, चलो धीरे धीरे घर की ओर चलें।'

वह मान गया हम चलते रहे, धीरे धीरे और अपने से दूर किसी अदृश्य बाहों के सहारे।

हर क्षण मुझे लग रहा था, जैसे हवाई बेड़ा मुझे अपने में बिठाये झूमता उड़ा जा रहा है, और उस उड़ान का मूक सन्देश मेरे कानों में रस घोल रहा है, कुछ झूम झूम कर आता और गुनगुना कर चला जाता, हवा में मस्ती भरी थी और मन का पंछी कूक रहा था। शरीर जितना थका थका सा था मन की उड़ान उतनी ही तेज होती जा रही थी, एक घिरती खामोशी मुझमें छाती जा रही थी और मुझे अनुभव हो रहा था जैसे बिना आश्रय के चला नहीं जायेगा।

'इधर देखो, जरा देखो तो ?' स्वर विजय का था, अनुनय, विनय और प्रभाव से भरा हुआ। मुँह फेरा पर आँखें झुका लीं, देखा नहीं गया, चेतना का पल्ला पकड़ने को मैंने पाँव आगे बढ़ाये और चाल तेज की, तब अनुभव हुआ पकड़ मेरी सशक्त है। अपने से हार खाकर मै किसी अन्य से हार नही खा सकूँगी।

विजय की भाषा कवित्वमय हो आई थी और बोल में मिठास भी थी, वह कहता आ रहा था—

'कितना सुन्दर और फैला हुआ मैदान है, चाँदनी अपने यौवन पर है रमा। धरती कैसी मीठी निद्रा में बेहोश है। चाँद की खुश-नसीबी मुझसे देखी नहीं जाती रमा। चाँदनी मेरे भी निकट है, फिर यह दूरी कैसी ?'

मैंने सुना और सुन कर विजयी की भाँति चाल और भी

तेज़ कर दी। उसकी बातें सुनती हुई भी मैं अपने विचारों में ग्रस्त थी, सोच रही थी ज़माना अपना नहीं लेकिन परिस्थितियाँ अपनी होती जा रही हैं, क्या मैं कठोर बन सकूंगी, क्या इन परिस्थितियों से मैं जूझ सकूंगी। मेरा प्रश्न उठा और विजय की आवाज में खो गया, वह कह रहा था—

'सुनो रमा, यह इशारे, जो पानी की धारा में गूंज उठे हैं।' मैंने देखा, पास का कूआँ चल रहा था और पानी की मोटी धार ऊपर से नीचे गिर रही थी। वह आवाज प्यारी थी, मैंने माना संकेत उसमें अवश्य होगा।

'यह देखो यह पेड़ों की झूमती हुई शाखायें, एक दूसरे का आलिंगन कर रही हैं, 'हुँ'! देख रही हूँ, और मै और भी आगे बढ़ गई। और मैंने अपने से कहा—

यह जंगली फूल भी झूम रहे हैं— हवा इनके साथ अठखेलियाँ कर रही है, क्योंकि चाँदनी मस्त है और उसकी मस्ती में चर अचर सब झूम झूम कर सो जाना चाहते हैं। सहसा मुझे नींद सी अनुभव हुई, जी चाहा वहीं लेट जाऊँ पर— 'मैं रुक गई अपने विचारों की पकड़ से छूटने के लिये, अपनी इच्छाओं का मूल्य समझने के लिये मैने विजय की ओर देखा— वह मुस्करा दिया, बोला, 'आओ बैठो।'

मौन जीत पर था, उस मौन की भाषा आकर्षक होती यदि वह बैठने को न कहता, लेकिन 'आओ बैठ जाओ' कहते समय उसकी आँखों का भाव, उसकी वाणी की कातरता, उसका बच्चों की तरह मचलते हुए हाथों का आगे बढ़ाना, उसके पौरुष पर एक आघात सा था, उस आघात की पीड़ा से मुझे घृणा-सी होने लगी,

और मैंने अनुभव किया कि पीड़ा ने विजय की मुख मुद्रा को बिगाड़ कर रख दिया है और वह स्वाभाविक स्थिति में नहीं है। अस्वाभाविक प्रवृत्ति की झलक उसके चेहरे पर कालिमा की तरह छाती जा रही थी और मैं उस कालिमा से बचने की चेष्टा में बोली—'यह वक्त यहाँ बैठने का नहीं जल्दी से घर पहुँचने का है। तेज़ी से चल सकते हो तो चलो वरन् मैं अकेली ही चली जाऊँगी' कहते कहते मैं अस्वभाविक रूप से तेज चलने लगी। मस्ती की नींद मेरी टूट गई थी और मैं जाग चुकी थी। अब घर का दरवाजा दिखाई दिया तो मुझे प्रतीत हुआ जैसे इच्छाओं, आशंकाओं और दुविधाओं का गला घोंट मैं निश्चिन्तता की साँस लेने को घर आ पहुँची हूँ।

अच्छा राज, अब आँखें मुँदना चाहती हैं।

—वही रमा।

## नवां पत्र

मेरे दूर के साथी,

'साथी' यह सम्बोधन भी कितना भला लगता है ! मालूम होता है जैसे दुनिया के सभी रिश्ते, सभी स्नेह इस एक शब्द में आ-आ कर समा गए हों। 'वह मेरा साथी है' बस इतना ही कह देना तो काफी होता है, इसके बाद शब्द के अर्थ की व्याख्या नहीं देनी पड़ती।

मनुष्य की प्रत्येक अवस्था इस साथी के लिए लालायित रहती है—बचपन का साथी, जवानी का साथी और बुढ़ापे का साथी। बचपन, जवानी, बुढ़ापा, सभी ऐसी अपूर्ण अवस्थाएँ हैं जो बिना इस 'साथ' के पूरी तरह निबाही नहीं जा सकतीं। फिर भी इन तीनों अवस्थाओं के साथ-साथ जो एक अलग अवस्था बनी है उसमें तो साथी का अभाव बहुत बुरी तरह से खटकता है, क्योंकि उसमें न बचपन का खेल खेला जाता है और न यौवन की प्यास मिटाई जाती है। इस अवस्था को जब हम धीरे-से खिसकते हुए देखते हैं तब उस खिसक जाने के भय से किसी का पल्ला पकड़ने की चेष्टा करते हैं—इस भय से कि कहीं हमें बुढ़ापा न आ घेर ले। अभी कुछ समय है, उसे गँवाना नहीं चाहिए, यह बार-बार कोई हमारे कानों में कह जाता है।

और तब हम अनुभव करने लगते हैं कि यौवन और बुढ़ापे के दौरान में आकर खड़े होने के लिए भी कोई हाथ थामने को चाहिए।

जाने क्यों स्त्रियों का साथ मुझे अच्छा नहीं लगता। उनके बीच बैठती हूँ तब मन उचाट-सा हो उठता है, बात होठों तक आ कर रुक जाती है, कुछ झेंप, कुछ लज्जा का आवरण मुझ पर आ पड़ता है और मैं अनुभव करने लगती हूँ जैसे उन सब से मैं कुछ अलग की चीज़ हूँ। मैं मन-ही-मन उनसे अपनी बराबरी करती हूँ तब जान पड़ता है उन-जैसी सतर्कता मुझ में नहीं और तभी किसी न किसी बहाने मैं उठ आती हूँ।

मेरे प्रति यहाँ अनेक प्रकार के मत निर्धारित किए जाते हैं। बूढ़ों की चौपाल से ले कर घरों के आँगन तक में मेरी ही चर्चा होती रहती है। मैं सब सुनती हूँ और सुन कर चुपचाप सह जाती हूँ—केवल एक इसी उद्देश्य को लेकर कि जिन्दगी के हर पहलू की अपनी एक अलग आस्था है और इसी आस्था के सहारे मनुष्य अपना रास्ता बना लेता है। मै भटक रही हूँ तो क्या हुआ ? भटकने से ही तो सीधे रास्ते पर जाने की आवश्यकता अनुभव होने लगती है और यदि उस आवश्यकता की सहज में ही पूर्ति कर दी जाए तो वह आवश्यकता अनुभव ही कैसे की जा सकती है ? पर··· हर आदमी यह नहीं मान सकता···समाज से अलग उसका कोई अस्तित्व नहीं है तभी तो विजय के साथ मेरे विचार मेल नहीं खाते।

क्या रखा है छिप-छिप कर आकर बैठने में···मैं अक्सर ये ही शब्द उससे बार-बार दोहरा चुकी हूँ। क्यों नहीं वह खुले तौर पर सब की उपस्थिति में मेरे साथ बातचीत करता ? मैं बुजदिल नहीं हूँ, यह बात मैं कई बार उसे सुझा चुकी हूँ, लेकिन मेरा यह सुझाव केवल मेरे तक रहा है।

कल रात एक विवाह पर हम दोनों का आमना-सामना हो गया···। सभी लोग अपने-अपने में व्यस्त थे, पर मैं उसे देख रही थी और विजय भी लोगों की दृष्टि बचा कर मेरी ओर देखने का प्रयत्न कर रहा था। एकाएक उस भीड़ को चीर कर मैं उसके पास जा पहुँची और बोली—"अकेले खड़े रहने से तो अच्छा है कि हम दोनों पास-पास ही बैठें। जान-पहचान तो मेरी भी यहाँ नहीं है, भीड़ छँट जाएगी तो चले जाएँगे।"

मेरे पास आने पर और मेरी बात सुन कर वह अपने को बचाने की चेष्टा करता हुआ बोला—"जाओ रमा···स्त्रियों के बीच जाकर बैठो। लोग देखेंगे तो क्या कहेंगे ?"

"लोग देखेंगे ? क्या मतलब ?"

"मतलब यही कि हम-तुम दोनों को देख कर लोग आपस में कानाफूसी करेंगे ?"

"तो क्या हुआ ? तुम जो रात-गए मेरे घर आते हो। क्या यह वे लोग नहीं जानते ?"

"वहाँ आने की बात कोई नहीं जानता···कम-से-कम जनता तो नहीं जानती। जो जानते हैं उनका मुझे भय नहीं।" यह कह कर वह ज़रा पीछे हटने लगा। पर मेरे क्रोध की कोई सीमा नहीं थी। मैंने आगे बढ़ कर धीरे-से परन्तु दृढ़ता से कहा—"मुझे एक बात कहनी है। बारात आ रही है और इस भीड़ में तुम्हें देखने को किसी को फुर्सत नहीं है। चलो वहाँ दो मिनट के लिए उधर स्थान खाली है···" एक छोटे-से मैदान की ओर इशारा करते हुए मैंने कहा।

विजय चुपचाप, परन्तु विवश-सा मेरे साथ चला आया। एकान्त में आते ही मैंने पूछा—"लोगों की दृष्टि बचा कर, मेरे घर

आ कर, मुझे बदनाम करने का तुम्हें साहस कैसे हो आया ? क्या इस लिए कि मैं अकेली हूँ ? और मुझे अकेले देख कर तुम्हें किसी से भय खाने की कठिनाई नहीं होती ?"

सुन कर वह क्षण-भर के लिए चुप रहा। मैंने कड़कते हुए पूछा—"बोलो, जवाब क्यों नहीं देते ? क्या यह ठीक है कि मेरे अकेलेपन से तुम नाजायज फायदा उठाना चाहते हो ? अगर इसी मतलब से आते हो तो आइन्दा आने की कोशिश मत करना।"

मेरे शब्दों से वह बुरी तरह से आहत हो कर बोला—"तुम भूल करती हो रमा। दुनिया में नाजायज फायदा उठाने के तो सुभीते बहुत हैं। ख्याल फायदा उठाने का होता तो मैं तुम से विनय करता, गिड़गिड़ाता और अगर उसका भी असर होते न देखता तो चालबाजी से काम लेता। पर छोड़ो इन बातों को। मेरी सचाई पर तुम्हें विश्वास नहीं तो मेरा सफाई देना भी बेकार है···। मैं क्योंकर कह सकता हूँ कि तुम्हारे प्रति जो मेरा आकर्षण बनता जा रहा है वह मेरे अन्तर की एक प्रेरणा है। वरना·····तुम तो जानती ही हो, काम-काज करके इतनी थकान हो जाती है कि समय को आराम करने में काट सकता हूँ। पर नहीं, तुम्हें इस से सरोकार ही क्या ? तुम जो समझो वही ठीक है···।"

उसे इस तरह पीछा छुड़ाते देख मुझे संतोष नहीं हुआ। वह गिड़गिड़ाता, सफाई देने की कसमें खाता तो अभिमान दिखलाने का अवसर मुझे भी मिलता। पर वह तो एक बात को सीमा तक ला कर भी वापस खींच ले गया था। अब उसी को फिर से वहाँ तक लाने की मुझे जरूरत हो रही थी। अपने प्रश्न का मैं इस तरह से अन्त नहीं होने देना चाहती थी। इसी से बोली—

"आदमी बेकार में क्यों झुँझला उठता है ? क्या इस लिए नहीं कि कहने की उसकी अपनी स्थिति नहीं रह पाती ? मेरे सवाल का जवाब वह नहीं था, जो तुमने दिया है। बात लोगों से बच कर जो किया करते हो उसी के कारण को मैंने पूछा है ?"

"ठीक है, मैं जानता हूँ तुम मुझे समाज से अलग होने की बात करवाना चाहती हो। और अगर तुम्हारी बात मान कर मैं यह भी कह दूँ कि दुनिया से बच कर तुम्हारे साथ नाता जोड़ने की मुझे क्योंकर आवश्यकता हुई है तो सुन कर तुम विश्वास भले न करो मगर कौतूहल तुम्हें अवश्य होगा। मैं समझता हूँ वही कौतूहल तुम्हारे भीतर भी है ?"

"मेरे भीतर ? मेरे भीतर क्या है ?"

"तुम स्वयं नहीं जानतीं ?"

"नहीं···"

"तुम बन रही हो, जानती हो और अच्छी तरह से जानती हो, मैं विश्वास के साथ कह सकता हूँ ?"

मुझ से जवाब देते नहीं बना। खुद अपने को टटोलने का एक आदेश मिला। पर क्या करती, अवसर मिला नहीं, इसी से चुप रही।

मुझे गौर से देखता हुआ विजय बोला—"दुनिया जो देखे और देख कर समझ ले, क्या वही बात ठीक होती है ? अगर ठीक ही समझती हो तो अपने को तुमने क्यों छिपा कर रख छोड़ा है ? तुम्हारी जो वास्तविक परिस्थिति है उससे तुमने मुझे परिचित नहीं होने दिया। लेकिन तुम से पूछने की मुझे जरूरत भी नहीं रही। हर बात का अपना एक भेद होता है। आदमी अगर उस भेद के

पर्दे के पीछे न रहे, उस भेद को दूसरों से अलग न रखे तो उसकी परेशानी, उसकी उत्सुकता निजी उत्सुकता न होकर दुनिया की उत्सुकता बन जाए। तब उसमें एक नहीं अनेक होकर रह जाए। तुम्हारे पास छिप कर आने में मुझे एक आह्लाद होता है, एक असीम उत्सुकता होती है, एक अजीब परेशानी होती है। क्या तुम चाहती हो कि इस उत्सुकता को छोड़ मैं साधारण परिस्थिति में तुम्हारे पास जाऊँ ?"

मैं सुन्न-सी खड़ी थी और लगा जैसे एकाएक किसी ने बुरी तरह से झंझोड़ दिया है मुझे ? मैंने अपने चारों ओर देखा। रोशनी से दूर हम दोनों खड़े थे—अँधेरे की छाँह में, टिमटिमाते हुए सितारों की परछाई में। पल भर के लिये मुझे कुछ समय पहले का एक चित्र याद हो आया—जब मैं भीड़ को चीर कर विजय तक आ पहुँची थी, रोशनी के बीच, लोगों की भीड़ के बीच। तब क्या ऐसा आह्लाद था, ऐसी अजीब तरह की अनुभूति थी, जो अब इस एकान्त में हो रही है ? 'नहीं, बिलकुल नहीं,' मैंने मन-ही-मन कहा और सोचा—प्रेम की व्याख्या कितनी भी विस्तृत क्यों न हो फिर भी जब तक उस पर पर्दा पड़ा रहे तभी तक उसकी अनुभूति में सजीवता है, तभी तक उसमें उत्सुकता है। बिना पर्दे के प्रेम प्रेम नहीं, एक व्यवहारिक रीति है, जो लेन-देन के व्यापार में चलती है और जिसके लिए विवाह-शादियों के बाजार गर्म हैं।

"क्या सोचती हो ?" विजय का स्वर गम्भीर और भीगा हुआ था। मैंने आँखें उठा कर देखा। वह मुसकरा रहा था। और चंचलता उसे अधीर कर रही थी। मेरे भीतर एक खटका-सा हुआ। उस खटके की आवाज से मैं जाग उठी। जैसे कोई चोर

घर में आने की चेष्टा किये जा रहा हो और मालिक उसे रास्ता दिखा रहा हो—मैने अपने को उसी अवस्था में अनुभव किया। बाजे-गाजे की आवाज बन्द हो चुकी थी। खामोश वातावरण में एक भय की कालिमा मेरे भीतर समाए जा रही थी। मैंने भयभीत होते हुए कहा—

"मुझे जल्दी-से-जल्दी घर पहुँचना है। थोड़ी दूर तक छोड़ दो, फिर मैं चली जाऊँगी।"

"क्यों, भाग रही ही हो मुझ से ?" विजय ने हकलाते हुए कहा।

"हाँ, यही समझो···" मैने आगे बढ़ते हुए कहा।

वह बोला नहीं। चुपचाप मेरे पीछे-पीछे चलता रहा। जब हम घर के निकट पहुँचे तब उसने कहा—"क्या मैं यहाँ आकर बैठ सकता हूँ ?"

"नहीं, आज नहीं, मेरी तबियत अच्छी नहीं···" मैंने अपने को खींचने की चेष्टा करते हुए कहा।

वह चला गया।

मैंने ठण्डी साँस भरी। खाना रखा था। ऊपर की थाली उठाई, पर जी खाने को नही हुआ। पीड़ा जैसे कचोट रही थी, आँधी जैसे झकझोर रही थी। मेरे हाथ काँप उठे, थाली गिर पड़ी।

पर क्या कर सकती थी ? संयम छूटने से विचलित होकर एकाएक फूट पड़ा। न जाने कब आँखें साफ हुई और मन हलका हुआ, पर मैंने अनुभव किया सवेरा हो गया है। जल्दी से उठी, नहाई, कपड़े बदले, कुछ मुँह में डाला और स्कूल चली गई।

लौटी तब मन भरा था। गली में पीपल के पेड़ की छाँह के नीचे चर्खा कातने वालियों की भीड़ जमा थी। मुझे गुजरते हुए देख पहले तो सब-की-सब सन्नाटे में आ गई। फिर धीरे-धीरे एक-दूसरी से कुछ कहने लगीं। कान मेरे उसी ओर लगे रहे—

एक कह रही थी—"औरत यह अच्छी नहीं दीखती।"

दूसरी हाथ मटका कर बोली—"उमर भर यही करती फिरेगी री, विजय को बाँध कर कैसा खेल खेल रही है।"

एकाएक मुझे ध्यान हो आया कल की बात का, जब मैं नदी-स्नान करके लौट रही थी। एक बुढ़िया ने मुझे देख कर अपनी बहू से कहा था—"पाप धोने जाती है मुँह-जली।" सुना तो रोष से भर उठी थी मैं, लेकिन उससे भी अधिक पीड़ा मुझे यह देख कर हुई थी कि मुझे देखते ही उस बुढ़िया की बहू ने जोर से किवाड़ बन्द कर लिये थे।

खैर, किसी तरह मैं घर आई और किवाड़ बन्द करके पड़ रही।

शाम को मेहरी ने एक पत्र लाकर हाथ में थमा दिया। पढ़ती-पढ़ती में काँप गई, स्कूल से निकाले जाने के लिये उस पत्र में लिखा था। मेहरी ने बताया कि तीसरे पहर सुखदेव चौधरी के यहाँ बड़ी पंचायत हुई थी। लोगों की शिकायत थी कि स्कूल की मास्टरानी का चाल-चलन अच्छा नहीं। अच्छा होता तो किसी एक के साथ पल्ला बाँध कर रहती।

मेहरी बता रही थी और मैं आवाक सुन रही थी। बात खत्म करके वह बोली—"मास्टरानी जी, मैं भी जा रही हूँ। तुम्हारी रसोई करके जो भूल-चूक हो गई है उसका पश्चाताप करूँगी।"

ओह, मेरे कानों में जैसे किसी ने पिघला सीसा डाल दिया हो। मैं तिलमिला उठी, बोली—"जाओ, अभी चली जाओ।"

मेरी चीख से वह न विचलित हुई, न क्रोधित। परन्तु जाते-जाते जिस तिरस्कार भरी दृष्टि से वह मुझे देख गई उससे मैं सिहर उठी।

हाँ राज, पलँग पर न जाने कितनी देर तक मैं सिसकती रही। जब मन हल्का हुआ तब सोचा—जो होना था हो गया। लेकिन इस होने के साथ विजय को छोड़ने वाली अब मैं भी नहीं हूँ। धोती बदली और बाल सँवारे। पाँवों में चप्पल डाल रही थी कि तभी विजय एकाएक मेरे सामने आ खड़ा हुआ।

उसका चेहरा मुर्झाया हुआ था और आँखें उदास थीं। मेरे कुछ कहने से पहले ही वह बोला—"तुम्हारी व्यवस्था मैंने कर दी है, तुम बेखटके वहाँ जा सकती हो।"

कहाँ, यह मैंने नहीं पूछा। जोर देते हुए बोली—"मेरी व्यवस्था या अपनी व्यवस्था ?"

उसने जवाब दिया—"मैं तो आज शाम की गाड़ी से बम्बई जा रहा हूँ। कुछ काम ही ऐसा आ पड़ा है।"

"तो क्या तुम मेरे साथ चलने को तैयार नहीं ?"

"नहीं रमा, अभी नहीं जा सकूँगा," लाचारी का भाव दर्शाते हुए उसने कहा।

मैं थके हुए, हारे हुए स्वर में बोली—"तब ठीक है, अपनी व्यवस्था मैं खुद कर लूँगी। तुम जा सकते हो।"

विजय चला, फिर ठिठका। वह कुछ कहना चाहता था, लेकिन उसे कहने का मैंने अवसर नहीं दिया। दरवाजे को मैंने जोर से बन्द कर दिया।

कमरा बन्द करके मैं चारपाई पर आ गिरी, पता नहीं कितनी देर तक रोती रही। रोती रही और उन अप्रिय घटनाओं को याद करती रही, जो विजय को लेकर घटित हुई थीं।

मुझे याद आया वह दिन जब विजय के आग्रह को मैं टाल नहीं सकी थी और चित्र बनाने के लिए वह मेरे ही कमरे में रात भर रह गया था। मेरे प्रति उसका आकर्षण मुझ से छिपा नहीं था, फिर भी उसे अपने पास रखने में मुझे हिचकिचाहट नहीं हुई थी। रात के करीबन डेढ़ बजे होंगे, मैं उसके सामने से उठी और उसके कन्धे को झँझोड़ते हुए बोली—"उठो, अब चल कर सो जाओ। देवी की पूजा समाप्त हो चुकी है।" मेरी ओर मुड़ कर उसने देखा और देखने के साथ ही उसने मेरे हाथ को पकड़ अपने माथे से लगा लिया। मैंने हाथ छुड़ाया और जाकर मैं चारपाई पर लेट गई। यह वही चारपाई है, जहाँ आज लेटी हुई रो रही हूँ। तब रुलाई मुझे इस तरह बेहाल नहीं कर रही थी। विजय से हाथ छुड़ा कर भाग आना और आकर लेट जाना यह सब कैसे हो गया था, मैं नहीं जानती। लेकिन उसे समझते देर नहीं लगी, इसी से वह मेरे पास आकर बैठ गया और वही हाथपकड़ते हुए बोला—"नींद का बहाना लेकर आँखें मूँदी जा सकती हैं, सपने नहीं देखे जा सकते।"

"लेकिन कौन कहता है कि मैं सपना देखना चाहती हूँ?"

"तुम न सही, मैं देखना चाहता हूँ, मगर नींद आयेगी नहीं।"

"हूँ, कोशिश करके देखो," मैंने उसके हाथ में अपना हाथ थमाते हुए करवट ली और उसी तरह लेटी रही। जाने क्यों? लेकिन मुझे याद है मुझे ऐसा लग रहा था जैसे मेरे शरीर की

तमाम शक्तियाँ चुक जाने को हैं। जैसे चेतना को झकझोर कर विजय ने मुझे हाथ के स्पर्श से अचेत कर दिया हो। पर दूसरे ही क्षण तुम्हारे संग बीते इसी तरह के कुछ क्षण एकाएक चित्र बन कर सामने घूम गये। मैं तड़प कर उठ बैठी, विजय से बोली—"जाओ, जाकर सो जाओ। रात बहुत निकल गई है।"

एक आज्ञाकारी बालक की तरह वह मेरे पास से उठ गया। सोचा भर नहीं। कारण नहीं जानती, पर सुबह जब वह उठा तब उस के चेहरे पर शान्ति और सन्तोष की झलक दीख रही थी।

सुना उस दिन उसने बहुत-सा काम कर डाला था—पक्की नालियाँ तैयार करवाई, घास-फूस के झोंपड़ों के स्थान पर जो नई कोठरियाँ बन रही थीं उनकी देखभाल की, कुएँ की खुदाई भी शुरू करवा दी। शाम को जब देर हुए लौटा तब उसका शरीर थका-थका-सा हो रहा था। लेकिन मन में दूना उत्साह और चेहरे पर एक नया उल्लास था।

उसने मुझे बताया कि इस गाँव की बहुत-सी ज़मीन उसी की है, सुखदेव के तो इने-गिने ही खेत हैं। गाँव-सुधार की जो योजनाएँ उसने बना रखी थीं, उनकी रूपरेखा भी उसने बताई। शहर की कोठियों के बेचने से जो पैसा उसे मिला था, वह समाप्त होने को था, यह सुन मुझे उसके लिये कुछ चिन्ता-सी होने लगी थी। इतना अधिक काम, एक दम शुरू करवा कर तुमने अच्छा नहीं किया। अब पूरा कैसे करवाओगे? मैंने सहानुभूति के साथ पूछा। "कुछ-न-कुछ इन्तज़ाम करूँगा ही," उसने इस विश्वास और दृढ़ता से कहा कि मैं आगे कुछ न कह सकी थी।

इधर सुखदेव के साथ उस का मन-मुटाव बढ़ता जा रहा था, क्योंकि किसान लोग सुखदेव की अपेक्षा विजय को चाहने लगे थे। सुखदेव के व्यवहार से वे लोग पहले ही क्षुब्ध थे और अब तो विजय की सहानुभूति पा कर वे उस के विरुद्ध होने लगे थे। विजय बताता जा रहा था और मैं सुनती हुई अनुभव कर रही थी जैसे किसी निकटता का आश्रय ले वह यह सब कुछ बता रहा था।

अन्त में उस ने कहा—"साथी का आश्रय मिलता रहे तो काम दुगने उत्साह से किया जा सकता है।" बात समाप्त होते-होते उसने मेरी ओर देखा, इस विश्वास के साथ जैसे मैं अपनी सम्मति उसे देने वाली थी।

लेकिन राज, इस निकटता के सम्बन्ध में आशंकाएँ अनेक होती हैं। इसी लिए तो मैं ने अपनी राय उसे नहीं दी, और कौन जानता है, उस समय की चुप्पी तुम्हारी ही अदृश्य आवाज का सहारा लिए थी, वरना तन्मयता जो मुझ में समा गई थी उस के प्रभाव में उस समय कुछ कह जाना असम्भव नहीं था। और आज विजय मुझ से भाग कर जा रहा है, क्योंकि उसे अपने को समाज में लाँछित नहीं होने देना है। तभी तो कह गया है—"तुम्हारी व्यवस्था मैंने कर दी है।" हूँ, मूर्ख कहीं का। वह नहीं जानता कि रमा को कभी किसी की सहानुभूति सहन नहीं हुई। वे सहारा समझ कर जो सहानुभूति की दुहाई देकर मुझे चोट पहुँचाना चाहता है उसे मैंने कभी क्षमा नहीं किया। कोई दूसरा मेरा रास्ता भला क्या बनायेगा। मुझे स्वयं पर विश्वास होना चाहिये।

अब रात की गाड़ी से वह जाने वाला है। मैं जानती हूँ, अब उस का सामना मैं नहीं कर सकूँगी। लेकिन जिस कारण से लाँछित होने का उसने मुझे अवसर दिया है, वह अवसर मैं यों ही नहीं खो दूँगी। मुझे भी उसी समय स्टेशन पर जाना होगा, ताकि जाते-जाते जिस चोट से वह मुझे रुला गया है उस का प्रभाव उस पर भी पड़े, समझने वाले समझें कि मेरा जाना अकेले नहीं हुआ विजय के साथ हुआ है।

अच्छा, अब तो एक पल भी यहाँ रुका नहीं जा सकता। बिस्तर है बाँधने को। थोड़ा-सा और भी सामान है। उठूँ, इन्हें बाँधू। अनिश्चित समय है, अनजानी दिशा है। जाना कहाँ होगा, यही अब सोचना है। चौराहे पर खड़े भूले मुसाफिर की तरह मेरी दशा हो रही है जिस के आगे-पीछे दाएँ-बाएँ रास्ते फैले हुए हैं, पर पहचान किसी एक की भी नहीं। भूली भटकी।

वही रमा

## दसवां पत्र

राज, उस रात स्टेशन पर आते-आते मैं ने सोचा कि घर से बेघर हो जाने पर स्त्री की जो दुर्दशा होती है उसे वही समझ सकती है। मैं जानती हूँ, हाथ देने के लिए सभी तैयार हो जाते हैं, मगर उस हाथ की लाज निभाना कोई बिरला ही जानता है।

चलते-चलते थक चुकी हूँ, फिर भी चलना जारी है। पहुँचने का निश्चित स्थान अब थोड़ी ही दूर रह गया है। अब गाड़ी उस स्टेशन पर पहुँचने को है जहाँ से इस ओर की सभ्यता, संस्कृति और रहन-सहन की वास्तविक रूपरेखा दृष्टिगोचर हो रही है। ये दाएँ-बाएँ फैले हुए ऊँचे-ऊँचे रेत के टीलों और भागती हुई ऊँची-ऊँची घनी झाड़ियाँ सूखे ठूंठ के समान दिखाई दे रही हैं। इन्हें देख मन पर एक अजीब उदासी छाई जा रही है। और आँखों में निराशा व्याप्त होती जा रही है।

थर्ड क्लास के डिब्बे में हूँ, सुन कर तुम्हें दुःख होगा शायद। इन दिनों शान-शौकत, आराम सब छूट गए हैं। जिन्दगी के सफर के साथ-साथ जो काँटे कदम-से-कदम मिला कर चल रहे हैं, उन से बच कर चलना हो नहीं सकता। इसी से उनके साथी की भाँति मानना पड़ता है, वरना इस तरह का सफर करने की मैं कल्पना भी कैसे कर सकती थी!

बहुत लोग हैं इस डिब्बे में—जाट, जो तहमद बाँधे हुए हैं, सिर पर बड़े-बड़े गट्ठर-जैसी पगड़ियाँ रखे हुए हैं और चिकने-चुपड़े बालों से उनकी पगड़ियाँ बादामी रंग की हो रही हैं। वे

अकेले नहीं हैं। उनके साथ उनके बच्चे और उनकी बीवियाँ भी हैं। जो युवतियाँ हैं उन के चेहरे काले मलमल के दुपट्टों से ढके हुए हैं। इन काले मलमल के दुपट्टों पर सफेद बड़े-बड़े सितारे टंके हुए हैं। ओफ, इस गर्मी में और डिब्बे की इस ठसाठस भीड़ में वैसे ही दम घुटा जा रहा है और ऊपर से ये लम्बे-मोटे घूँघट और ये जाटनियाँ ?

लेकिन घूंघट में से भी उन की बातचीत की आवाज़ साफ-साफ सुनाई दे रही है। बूढ़ी स्त्रियों ने टोकरियों में रखी पोटलियाँ उठा ली हैं और मैले चीथड़ों की गाँठें खोलनी शुरू कर दी हैं। मैले चीथड़ों को देख कर मुझे झुरझुरी-सी हो आई थी, मगर उन के बीच रखी तन्दूर की बड़ी-बड़ी रोटियाँ को देख कर जी ललचा रहा है।

आम का अचार और प्याज के बड़े-बड़े छीले हुए टुकड़े और साथ ही भुने हुए तीतर के बड़े-बड़े टुकड़े उन्होंने जाटों के आगे रख दिए हैं। भूख से बेसब्र हुए उन के बच्चे एक-दूसरे से छीना-झपटी करने लगे हैं। अभी-अभी एक को जोर से चाँटा रसीद हुआ है। ओफ, वह इस कदर ऊँची आवाज में रो रहा है कि कान के पर्दे फटने लगे हैं। मैं एक कोने में दुबकी-सी बैठी हूँ, फिर भी देख रही हूँ कि जाटनियाँ मेरी ओर घूर-घूर कर देख रही हैं और अवसर पाते ही एक-दूसरे के कान में कुछ कह देती हैं। इन की आँखों की भाषा मैं समझ रही हूँ। पूरे शब्द सुनाई नहीं दे रहे, फिर भी होठों के फड़कने की गति-विधि को मैं लदय कर रही हूँ। यह इन लोगों की आदत-सी मालूम देती है कि किसी अजनबी को देख कर उस के विषय में अनुमान लगा-लगा कर इशारों से

बातें करती हैं और बीच-बीच में हँस देती हैं।

लो, अब लस्सी की मटकी भी निकाली जा रही है। तीन-चार काँसे के बड़े-बड़े कटोरे लिए जाट लस्सी पीने को माँग रहे हैं। जाट खा लेंगे तभी जाटनियों को खाना बाँटा जाएगा, इसी आशा में वे एक-दूसरे को देख-देख कर समय काट रही हैं।

राज, इन जाटनियों के आभूषण यदि तुम देख पाते तो हँसे बिना न रहते। चाँदी की मोटी-मोटी हंसलियाँ उन के गलों में पड़ी हुई हैं। कानों में ठुड्डी तक लटकती हुई बड़ी-बड़ी बालियाँ हैं और कलाइयों में मोटे-मोटे चाँदी के कंगन। मालूम होता है, यह लश्कर किसी बरात में जा रहा है। तभी तो हँसी के फव्वारे छूट रहे हैं। इन लोगों को साथ वाले स्टेशन पर उतरना है। फिर दो स्टेशन छोड़ कर मेरा स्टेशन भी आ जाएगा।

एक जाट ने कानों पर हाथ रख ऊँचे स्वर में हीर गानी शुरू कर दी है। उस की आवाज के जोर ने उस के गले की नसें उभार दी हैं। और उस का चेहरा लाल हो रहा है। उस का साथी कह रहा है—"लस्सी का नशा है।"

"अरे नहीं, रोटियाँ हजम की जा रही हैं, दूसरे का जवाब है। और कोने में बैठी उसकी जाटनी घूंघट में ही हँस पड़ी है। बेचारी से रहा नहीं गया। पति की कला पर मुग्ध हो उठी हैं। इसी से उस का सिर स्वर के उतार-चढ़ाव के अनुसार दाएँ-बाएँ को हिल रहा है।

जाट का गला जोर पकड़ रहा है। जोश में आकर दूसरा जाट भी फड़क उठा है। गला फाड़ कर उसने बेसुरा आलाप शुरू कर दिया है। इंजन का शोर, गाड़ी की धड़-धड़ प्रायः लुप्त हो

गई है। ओफ, मेरी बेचैनी बढ़ गई है, जी चाहता है इस से छुटकारा पाने के लिये चलती गाड़ी से नीचे कूद पड़ूँ।

घड़ी में अभी ग्यारह ही बजे हैं। पहुँचने में अभी पूरा एक घण्टा पड़ा है, पर मैं भी कैसी हूँ सुजाता को खबर भी नहीं की, अब तो घर तक इस गठरी-बिस्तर के साथ पैदल ही जाना पड़ेगा। तुम्हें शायद बताया नहीं कि सुजाता आजकल यहाँ आ गई है। डाक्टर मोहनलाल यहाँ के सरकारी अस्पताल में आ गये हैं। इधर-उधर खूब भटक चुकी हूँ। अब कुछ दिन सुजाता के पास रहूँगी और उम्मीद है उस के साथ मैं एक बार फिर इधर के उन गाँवों में घूम सकूँगी, जिन्हें छोड़े एक अरसा हो चुका है।

अरे·····स्टेशन आ गया। ये सभी लोग उतर रहे हैं। सामान क्या है, मानो बिखरी हुई उल्टी-सीधी चीजों का बाजार लगा है। अलग-अलग तरह की पोटलियाँ बंधी हुई हैं। जाटनियों ने जूतियाँ पाँवों में डालने के बजाय सिर पर उठाकर रख ली हैं। देख कर हँसी आ रही है। पर यही क्या? उधर जाट लोगों ने भी तो अपनी-अपनी चिलमें हाथों में ले रखी हैं। लम्बी नली का हुक्का तो वैसे एक के पास है। बाकी चिलम पीने वाले हैं भीड़ भी गजब की है। गाड़ी थोड़ी देर ही रुकेगी, तभी तो भागा-भागी हो रही है। जाटनियों की छोटी-छोटी लड़कियों के कान चाँदी की अनगिनत बालियों के बोझ से नीचे लटकने को हो रहे हैं, ऊपर का हिस्सा सूज कर लाल-लाल हो रहा है। बेचारी लड़कियाँ! दुपट्टों के पल्लू से कान दबा लेती हैं, फिर सी-सी करती हुई मा-बाप के कहने पर सामान उठा-उठा कर एक ओर रखती जा रही हैं। लेकिन ओफ! बेचारी छोटी लड़की की बालियों में किसी दूसरी लड़की का चुनरी का छोर अटक गया

है। बेचारी दर्द से चिल्ला उठी है। उसकी चिल्लाहट सुन कर माँ ने उसके गालों पर दो थप्पड़ रसीद कर दिए हैं। प्लेटफार्म पर एक कोहराम-सा मच गया है।

अभी सामान गाड़ी से पूरी तरह नहीं उतर पाया है कि गार्ड ने सीटी दे दी है। अब तो उनका बचा सामान मुझे बाहर फेंकना ही पड़ेगा। अहमक कहीं के·····पूरा-का-पूरा घर उठा लाए हैं। हँसी के साथ-साथ गुस्सा भी आ रहा है।

लो गाड़ी चल पड़ी। उनकी यह मक्खन वाली मटकी तो रह ही गई। जाटनी हाथ हिला-हिला कर गला फाड़-फाड़ कर प्लेट-फार्म पर चिल्लाए जा रही है—"अरी ओ मेम साहब, मेरी मटकी तो देती जा।"

खिड़की में से मुँह निकाले देखे जा रही हूँ। कैसे उसे समझाऊँ कि गाड़ी मेरी नहीं जो तुम्हारी मटकी के लिए रोकी जा सके। मैं झुँझलाकर भी हँस पड़ी हूँ कि तभी क्या देखती हूँ कि कोने में एक सुन्दर जाटनी घूँघट उठाये कजरारी आँखों से मुझे टुकर-टुकर देख कर मुसकरा रही है।

मैं कुछ पूछूँ कि वह मेरे पास आकर बैठ गई है। वह मुसकरा कर पूछ रही है—"मालूम होता है तुम पढ़ना-लिखना जानती हो।"

"हाँ, कहो कुछ काम है क्या ?"

"हाँ, यह चिट्ठी है। में पढ़ना नहीं जानती, इसे बाँच दो।"

मैं ने चिट्ठी ले ली है। उर्दू में लिखी हुई है। मैं उसे पढ़ कर सुना रही हूँ।

"फातिमा जान, खत देखते ही चली आओ। अम्मी जान को

मैंने सारा किस्सा सुना दिया है। वह तुम पर खफा नहीं हैं। वह एक छोटी दरी और एक छोटा-सा मजनूँ बुनने की तैयारी कर रही हैं। कल हम दोनों ने मिल कर सूत को रंगा है। खूँटियाँ गाड़ दी हैं। ताना-पेटा तुम्हारे आने पर ही डालेंगे।

मैंने इतना ही पढ़ा है कि वह बीच में ही पूछ बैठी है—"तुम्हारी साड़ी की किनारी का नमूना बहुत अच्छा है। ऐसा डोरा हम दरी के किनारों पर डालें तो बहुत अच्छा लगे।"

खत को एक ओर करके मैंने अपनी साड़ी की ओर नज़र डाली। किनारी देखते ही एकाएक कुछ याद हो आया। यह साड़ी वही है जो घर से आती बार मैंने पहन रखी थी। सफर में यही पहनती हूँ। इसे राज, तुम बनारस से लाये थे। साड़ी सूती है, पर किनारा जरी का है। मैं उससे कह उठी हूँ—"मेरे शौहर ने लाकर दी थी।" यह सुन कर फातिमा आश्चर्य से बोल पड़ी—"अच्छा! तुम्हारा शौहर कोई मालदार आदमी है, तभी तो इतनी खूबसूरत चीज लाता है। मगर हाँ, खत आगे नहीं बाँचा, क्या लिखा है?"

बाकी खत पढ़ कर मैंने उसे सुना दिया है। खत सुन कर उसे खुशी बहुत हुई है, पर मैं जान गई हूँ कि यह खत उसने पहली बार मुझसे ही नहीं सुना है। इससे पहले न जाने कितनी बार सुन चुकी होगी, क्योंकि खत के दोनों किनारों पर चिकने पीले दाग पड़े हुए हैं।

मेरी ओर देखते हुए वह पूछ रही है—"अपने घर का पता बता दो बहन जी, मैं तुम्हारे यहाँ आऊँगी। मैं जुलाहों वाली गली

में रहती हूँ, मजनूँ बहुत अच्छे बुन लेती हूँ। तुम्हें जरूरत पड़े तो फातिमा को याद कर लेना।"

"ओह, मैं तो फातिमा तुम से पूछना ही भूल गई। बच्चे होने के दिन जरूर तुम्हारे पास आऊँगी। कब तक होने की उम्मीद है ?"

"अगले महीने," उस ने आँखें झुका कर कह दिया है।

"तो ठीक है, मिठाई खिलाओगी न ?"

"अम्मी से कह दूँगी," उसने उसी तरह आँखें झुका कर शरमाते हुए उत्तर दिया है।

मैं अब उठ बैठी हूँ। गाड़ी की चाल धीमी पड़ गई है। सुजाता के घर का पता उसे बता दिया है और अस्पताल में फातिमा को आने को भी कह दिया है। डाक्टर से कहूँगी कि वह उसे अपने यहाँ रख ले। बड़ी भोली और खुशमिजाज लड़की है। चलो, अकेले जाने का खटका दूर हुआ। फातिमा साथ है, स्टेशन पर कुछ-न-कुछ इन्तज़ाम कर लेंगे। अच्छा तो विदा।

रमा ही

## ग्यारहवां पत्र

मेरे राज,

तुम्हें अपना राज कहने का दावा मैं अब भी नहीं भूली। जाने क्यों होठों पर रह-रह कर यह नाम फुसफुसा उठता है। सुजाता तुम्हें तुम्हारी सफलता पर बधाई देती है। उम्मीद है, स्वीकृत कर ली जाएगी।

अखबार में तुम्हारा फोटो देखा। इस फोटो से और उसके नीचे लिखी तारीफ से तुम कहाँ से-कहाँ जा पहुँचे हो। इस ऊँचाई पर मैं गर्व कर सकती हूँ, पर तुम्हें अपना राज समझने की धृष्टता मैं नहीं कर सकती। इसे तुम मेरा छिछलापन समझो और चाहे ईर्ष्या, लेकिन जो सत्य है वही मैंने कह दिया है।

क्या मैं गलत कहती हूँ कि यह योग्यता और उससे मिली प्रशंसा पा कर तुम बहुत ऊँचे उठ गये हो? ऊँचे उठते समय जब दूसरे की उड़ान साथ नहीं दे पाती तब उड़ने वाले को नीचे झाँकने की फुर्सत ही कहाँ होती है। तुम झाँकते और मैं दिखाई न देती, यह कैसे हो सकता है? तुम्हारी योग्यता ने मुझे कुचल कर रख दिया है, राज! मेरे अन्तर की सारी गहराई में यही आवाज़ गूँज रही है।

आज सुबह उठते ही सुजाता ने अखबार उठाया और उसे देखते ही वह चिल्लाई—"अरी रमा, भाग कर आ, तुझे तेरे देवता के दर्शन करवा दूँ।"

मैं उस समय बागीचे में थी। आवाज़ सुनते ही भाग आई, इस आशा से कि मेरा देवता स्वयं मेरे ही दर्शनार्थ आ पहुँचा है। लेकिन अफसोस! ज्योंही सुजाता के निकट आई अखबार के मुखपृष्ठ पर तुम्हारा चित्र देख कर सुन्न-सी, ठगी-सी खड़ी रह गई।

सुजाता ने झंझोड़ा···"आँखें फाड़े क्या देख रही हो? यहाँ तुम्हारा ही रूठा हुआ देवता बैठा है, पढ़ो तो कितना नाम पाया है राज ने।"

मेरे होठों से धीरे से निकला—"होगा।" मेरी आँखों के सामने मोटे-मोटे अक्षर पानी में बुलबुलों की भाँति तैर रहे थे, जिन के उभार में चमक थी और भीतर शून्यता। नाम तुम्हारा था, योग्यता उसकी प्रतीक थी। देखने वाली की आंखों में चकाचौंध थी और मन में हाहाकार। मैं खड़ी नहीं रह सकी। कमरे में भागती-सी आई और पलंग पर औंधे मुंह लेट गई। बच्चों की तरह छटपटाते हुए फूट-फूट कर रोने का यह मेरा पहला अवसर था। इस से पहले कभी रोई थी, यह याद नहीं।

सुजाता मेरी पीठ सहला रही थी। उपयुक्त शब्द वह पकड़ नहीं सकी, अचानक के उस रुदन ने उस को भरमा दिया था, फिर भी बोली—"पगली, आखिर हुआ क्या है?"

रोते-रोते हिचकी बँध गई, तब रुलाई ने भी ठंडी साँस ली। मैंने मुँह पोंछा और अपनी आलमारी में से पर्स निकाल कर चाबी सुजाता की ओर फेंकते हुए बोली—"यह चाबी राज के घर की है, इससे मुझे कितना लगाव रहा है, तुम क्या जानो। राज के घर की एक-एक चीज से मुझे लगाव था। घर छोड़ते समय यह चाबी साथ

लाना न भूली भूलती ही क्यों ? चीनी के नए बर्तन, और नया··· का सामान नौकर के सुपुर्द कैसे कर सकती थी ? आते-आते उसे भी बन्द करती आई, जैसे वह सब मुझे ही आ कर फिर से खोलना था।"

सुजाता मेरी पीड़ा अनुभव कर रही थी, इसी से लगातार मेरी पीठ सहलाती रही। आँसू उसके गालों पर बहने लगे। किशोर ने दूर से देखा तो कहा—"ममी, रो क्यों रही हो ?" सुजाताने आँसू पोंछ दिए और धीरे से कहा—"रमा, चल कर हाथ-मुँह धो लो, किशोर क्या सोचेगा ?" हाथ-मुँह धोने गई तो सोचती रही—माँ के आँसू बच्चा कितनी जल्दी से पोंछ देता है।

कोई पूछे कि मैं किस की पत्नी हूँ तो मैं गर्व से फूल उठूं। इतने बड़े वैज्ञानिक की पत्नी का मूल्य क्या है, यह जानने वाला खूब जानता है। पर उस मूल्य को मैं नहीं आंक सकूँगी। ऐसा सोच कर ही मेरी बेबसी कराह उठती है। कितना बड़ा अन्याय है इसके भीतर। फिर भी जीती-जागती मूर्ति हूँ तो देखे जाने पर पूछने वाले को धोखा नहीं दे सकूंगी। सब कितना खोखला-सा है। लग रहा है जैसे मेरे विचारों की उम्र बीत चुकी है, मेरे स्वप्नों का ताँता टूट चुका है, मेरी दृष्टि का छोर दूर होता जा रहा है। मेरी जो कल्पना है, वह सारगर्भित है। मेरे विचारों की कड़ियों की शृंखला में भावी परिणाम की शंकाएँ बँधती जा रही हैं। अदृश्य के पर्दों पर वह गाँठ साफ-साफ देख रही हूँ, पर उसे खींच-खाँच कर भी खोल नहीं पा रही हूँ। यह मेरी विवशता नहीं तो और क्या है ?

तथ्य को देखने वाला कभी स्वप्नों के ससार में नहीं विचरता।

फिर भी अजीब बात है कि रात मैं एक भयानक स्वप्न देखते-देखते चीख पड़ी। मेरा कमरा ऊपरी मंजिल पर है, खूब खुला-खुला है, चारों ओर खिड़कियाँ खुलती हैं। दाहिनी ओर खुला मैदान है, हरा-हरा और गीला-गीला। नींद जब नहीं आती तब उसी ओर देखती रहती हूँ। रात देखा, बड़ी सुहावनी धुंधली सी संध्या थी। चन्द्रमा के धुंधले प्रकाश में दूर का टीला चमक रहा था, उस टीले के पास वाले खेत की मेंड़ पर से ज़रा दूर पानी की पतली धार है, जिसमें मेंढकों की टर्र टर्र की आवाज़ चारों ओर सुनाई दे रही थी। तभी देखती क्या हूँ कि कोई गाता हुआ उस टीले पर चढ़ा जा रहा था। चाँदनी के प्रकाश में वह एक काला-सा धब्बा जान पड़ा। जब वह धब्बा ऊपर जा पहुँचा तब झीने आवरण के बीच में से दो कजरारी आँखें दिखाई देने लगीं। तभी किसी ने खिल-खिलाते हुए पीछे से आकर एकदम उस की आँखें मींच ली। मैंने साफ-साफ सुना—"चलो, जल्दी करो, तूफान आने वाला है।" उस आवाज़ में एक शान्त समुद्र की गम्भीर गर्जना थी। उस ध्वनि की अनुभूति से मैं विचलित हो उठी और पलंग पर उठ कर बैठ गई। वह आवाज़ राज तुम्हारी थी, जिसने मुझे समूची को एक बार ही में केले के पत्ते की भाँति कंपा दिया। मेरे भीतर ज्वार भाटा उमड़ रहा था और खिड़की से बाहर चाँदनी उदास हुई जा रही थी—जाने मेरे काँपने से या चन्द्रमा के इर्द-गिर्द छाई हुई उस बदली के भय से, जो बड़ी तेजी से उसे ढाँपने को बढ़ी आ रही थी।

मैंने आँखें बन्द कर लीं, पर उस अवस्था में भी मेरी दृष्टि के लक्ष्य-बिन्दु, एक-दूसरे का साथ देते हुए आगे की ओर बढ़े जा रहे

थे। कैसे कहूँ कि तब न कोई गाने वाली सामने थी और न ही वह गम्भीर ध्वनि वाला पुरुष। फिर भी अनुमान मेरा यही है कि सुधा की खिलखिलाहट का साथ तुम्हारी गम्भीर ध्वनि दे रही थी।

सुबह उठी तब तबियत नहीं लगी। टहलने के बहाने मैं बहुत दूर तक चली गई। मन के साथ कदमों का साथ नहीं बन पा रहा था, फिर भी मैं चली जा रही थी। जहाँ जाकर रुकी वह एक 'भूखा तालाब' था। उसे देख मैं विचलित हो उठी। तब मालूम हुआ, दूरी का आमंत्रण ले मैं केवल चलने की व्यवस्था में थी, दिशा के ज्ञान से बिलकुल बेखबर। नहीं तो इस भूखे तालाब की ओर जाने का साहस मैं कभी न करती। सुना है यह रास्ता भूत-प्रेतों से घिरा हुआ है। घने-घने पेड़ कच्ची सड़क को घेरे हुए दोनों छोर को ढाँपे हुए हैं। दृष्टि में भय न रखती हुई भी मैं काँप-काँप जा रही थी, इस विचार से कि अँधेरा और शून्यता मुझे अपने में छिपा न ले।

राज, स्वप्न क्या सत्य नहीं होता? अगर नहीं तो उस की सम्भावना की अनुभूति हमें क्यों हुआ करती है? चेतन अवस्था में भी उसके धुंधले चित्र बार बार क्यों आँखों के सामने आ आ जाते हैं? स्वप्न के विषय में जब मैं सोचती हूं तब मुझे लगता है जैसे पर्दे का आवरण चीर कर अदृश्य सामने आ खड़ा होता है और उसमें पड़ने वाली परछाई धुंधली होती हुई भी परिणाम की घोषणा करके सचेत करदेती है मेरे इस स्वप्न की भी कोई रूपरेखा तैयार की जा रही है क्या? कहीं प्रतिष्ठा पा कर गहरे शान्त समुद्र में कोई तूफान तो उठने वाला नहीं है? मेरी मिलने जुलने वालियों में सुधा की निकटता मुख्य थी। हर एक का परिचय तुम से हो

नहीं पाता था। परिचय से बढ़ कर तुम्हें व्यक्तित्व की पहचान अधिक रहती थी।

लेकिन मुझे याद है, सुधा की तुमने सराहना की थी, इसलिये नहीं कि देखने में वह अच्छी लगती थी, बल्कि इसलिए कि उसका व्यक्तित्व वास्तव में तुम्हें भा गया था।

जब वह मेरे साथ प्रयोगशाला में आई थी तब तुमने मुझ से दूसरे दिन ही कह दिया था—"सुधा की पहचान उसके देखने में नहीं, उसे पढ़ लेने में है।" तुम्हारी बातें कितनी भोली जान पड़ती थीं। विज्ञान के सूखे अध्याय को पढ़ने के बाद इस तरह की बातें तुम्हारे मुँह से सुनना बहुत अच्छा लगता था। तभी तो वहाँ से खींच कर मैं तुम्हें कल्पना के संसार में ले जाया करती थी। लेकिन वह खींच कच्चे तागे की होती थी, इसी से जल्दी टूट जाती थी। तुम फिर वहीं होते, कुछ सोचना शुरू करते और सोचते-सोचते प्रयोगशाला में जा पहुँचते।

सुधा तुम्हारा सामना नहीं कर पाती थी। लेकिन अब मुझे विश्वास है कि मेरी अनुपस्थिति मे वह तुम्हारी खोज-खबर लेने अवश्य आती रहती होगी।

मैं सोच सकती हूँ कि पास रखी हुई जिस आरामकुर्सी पर बैठने का मुझे पूरा अधिकार मिला हुआ था, वह तुमने अब उसके लिये सुरक्षित कर दी होगी। मेज पर रखी पानी की सुराही उसकी बगल में रहती होगी। वह जानती थी कि तुम्हें जब काम करते-करते कुछ परेशानी हो जाती है तब तुम पीने के लिये पानी माँगते हो। वह यह भी जानती है कि सोचते-सोचते जब तुम बहुत दूर

तक चले जाते हो तब तुम्हें चाकलेट देकर वापस लाया जा सकता है। खाने में कौन-सी चीजें तुम्हें पसन्द हैं, वह यह भी जानती है। उसके साथ अक्सर मैं तुम्हारी ही चर्चा किया करती थी। मगर तब क्या मालूम था कि इन बातों की किसी और को भी आवश्यकता अनुभव होगी।

मेरी कुर्सी पर अब उसका बैठना पता नहीं तुम्हें कैसा लगता होगा। उसकी हल्की धानिये रंग की साड़ियाँ उस पर खूब खिलती होंगी और मैं जानती हूँ कि तुम्हें धानिये रंग खूब पसन्द है। तुम्हारी इस पसन्द को सुधा भी जानती है। आज तुम दोनों से अलग आ छिटकी हूँ। अफ़सोस करूं भी तो क्योंकर ? अवसर देकर जो स्वयं चली आई उस अवसर से कोई लाभ उठाएँ तो दोष उनका भी क्या ?

आजकल कुछ अपने में हूँ, यानी कपड़े लेने के लिहाज़ से। सुजाता को मेरा वह वैरागी वेश पसन्द नहीं था। डाक्टर की पत्नी है, सौ आदमी आते हैं और बीसों से मुलाकातें करनी पड़ती हैं। बहन की हँसाई वह करवाना नहीं चाहती। दो साड़ियाँ मैंने भी धानिये रंग की खरीद ली हैं, मगर पहनने को मन नहीं होता। जिसकी इन में रुचि थी, वह पास ही नहीं तब अपना जी बहलाना ही तो रह गया है।

हाँ, सुजाता ने बतलाया है कि मुझे डाक्टर साहब के साथ उस मरीज को देखने जाना है, जो कल सुबह दाखिल की गई थी। स्त्री क्या है, जीती लाश है। मालूम हुआ है वह बच्चा जनने की अवस्था में थी कि पति के घूंसों ने उसे अचेत कर दिया। उसने

बताया है कि ज्योतिषी के कहने पर उसका पति मान बैठा है कि होने वाला बच्चा उसके लिए अच्छा नहीं। कितनी बेहूदी बात है, पर क्या बताऊँ राज, इस बेकार की बात ने उस बेचारी स्त्री की ज़िन्दगी तबाह कर दी है।

डाक्टर ऑपरेशन करना चाहते हैं। बच्चा पेट में ही मर गया है। स्त्री के बचने की आशा नहीं है। गाँव की बुढ़िया, जो उसके साथ आई थी, उसके मरने की इन्तज़ार में बैठी है। आज दोपहर तक की बात है। बच गई तो भली, वरना मरना तो है ही। पति के घूंसों से न मर सकी तो डाक्टर के हाथों ही सही। स्त्री नहीं, जिन्दगी ही तड़प रही है। मरने की दुआ माँग कर भी मरा कहाँ जाता है? यही सहज होता तो यह स्त्री दस मील का फासला तय करके यहाँ न आ पहुँचती। खाने को जहर था, डूबने को कुआँ, लेकिन डाक्टर के हाथ से मरना शायद सहज बन आए इसी से यहाँ रेंगती आई है। उसे अब चल कर देखना चाहती हूँ, जाते मुसाफिर की एक झलक ही सही।

—रमा।

## बारहवां पत्र

राज,

कल इतवार था। अस्पताल की छुट्टी थी। सुजाता और डाक्टर साहब किसी के यहाँ आमंत्रित थे। जोर मुझ पर भी डाला गया कि इस उत्सव और उल्लास में साथ निभाऊँ, पर मन हुआ नहीं, इसी से अकेली रह गई।

सुजाता की अलमारी खुली पड़ी थी। इधर-उधर झाँकती हुई निकट पहुँची तो किताबों के ढ़ेर में से चुन कर कुछ पुस्तकें उठा लाई और उलट-पलट कर देखने लगी।

शरत बाबू का उपन्यास 'चरित्रहीन' देखा। पृष्ठ उल्टे, कुछ लाइनें पढ़ी, बहुत दिलचस्प लगा। बाकी पुस्तकों को यथास्थान रख मैं उसी को पढ़ने में तल्लीन हो गई। पढ़ते-पढ़ते आँखें थक गईं तब भी मन पढ़ने से भरा नहीं। सोचती रही सावित्री ने यह कड़वा घूंट गले के नीचे सहज ही उतार क्यों लिया? इसी लिए न कि अमृत पीने के धोखे में वह निज का सम्मान न खो बैठे? उसके चरित्र को पढ़ते-पढ़ते अपने से तुलना ले बैठी हूँ। सोचती हूँ, जिस झूठे सम्मान को बचाने के लिए मैं यहाँ आ पहुँची हूँ वह बच्चा कहाँ है? लगता है, जैसे उसे बचाने की चेष्टा में मैं उस सम्मान को अपने सामने ही खो बैठी हूँ।

अब तो लगता है जैसे आत्मा का सच्चा स्वरूप उस अन्ध-कूप में डोल रहा है, जहाँ से उसकी परछाईं तक दीख नहीं पड़ती।

बचने बचाने से क्या होता है! जो अपने को डुबो कर अपनी

आत्मा को बचा लेता है वही तो असल में बचता है, बाकी तो सब थोथा और झूठा मान है। गहरे में डुबकी लगाए बिना असल की खोज नहीं हो सकती। यहीं आ-आ कर खीज उठती हूँ और सोचती हूँ जैसे मैं नहीं मेरी आत्मा भटक रही है।

इस संध्या के झुटपुटे में पीपल के पत्ते खड़खड़ा रहे हैं। जैसे कोई कानों में फुसफुसा कर कह रहा हो—"तुम कोई भी क्यों न हो, उसी स्थान पर लौट जाओ जहाँ से आई हो। तुम्हारी जैसी स्त्री का मान करने का प्रयास निरर्थक है। जिसका मन सच्चे प्रेम की ज्योति से जगमगा रहा हो उसे बाहरी आडम्बर का आवरण शोभा नहीं देता।" सच ही यह मेरी भीतरी आवाज है, जो मैं अनुभव कर रही हूँ, फिर भी, विश्वस्त नहीं हूँ। यह मेरी कैसी अस्थिरता है!

अपने को पढ़ने के लिए मैं कौन-सी पुस्तक का पृष्ठ पढ़ूँ, कुछ तय नहीं कर पा रही हूँ। तुम से तीन बरसों का साथ एक अध्याय बन गया है। उस अध्याय को बहुत बार पढ़ चुकी हूँ। इस बीच के कुछ पृष्ठ रंगीन स्मृतियों से भरे पड़े हैं। उन्हें खोल कर देखती हूँ तो मालूम होता है कि मैंने तुम्हें पहचानने में गलती की है। केवल गलती ही नहीं, उसके द्वारा अपने को ठोकर भी लगाई है।

तुम बातें बनाना नहीं जानते थे, क्योंकि बातें बनाना तुम्हें मात्र ढोंग सा लगता था। तुम उस रास्ते आवेश में न होते थे जिस के प्रभाव में आकर तुम मेरे रूप की, मेरे गुणों की प्रशंसा करते। तब तो जो तुम्हारे मुँह से न सुन सकी थी उसी की कामना में बेहाल हो रही थी। परन्तु आज इस नए मोड़ पर आकर नए-नए रास्तों का परिचय प्राप्त हो चुका है। विजय और अब यह डाक्टर

भी मेरे प्रशंसकों में गिने जाने लगे हैं।

विजय गम्भीर था। उसकी गम्भीरता में मैं धीरे-धीरे डूबती सी जान पड़ी थी। उस डूबने में खटका भी नहीं था। लेकिन उस की कायरता मेरे सामने आई तब मन घृणा से विकृत हो उठा, लगा जैसे इस घृणा की कालिमा मुझे ही काला कर डालेगी और इससे विजय का बाल भी बाँका नहीं होगा। इसी से उसे उसी तक छोड़ चली आई।

स्त्री कहाँ तक स्वतन्त्र हो पाती है राज, यह मैं तब न समझती थी किन्तु अब महसूस कर रही हूँ जैसे उसकी कोई सम्पत्ति निज की नहीं होती। पुरुष का लोभ उस पर बराबर ताक लगाए ही रहता है। इधर जिसे आश्रय समझ कुछ चैन लेने आई थी वह आश्रय सीमा से बढ़ आने को है। डाक्टर की समय-असमय की प्रशंसा अब भार बन आई है। उस दिन जब मैं डिस्पेंसरी में दवाईयों की लिस्ट तैयार कर रही थी, मरीजों से छुटकारा पा डाक्टर भीतर आए और बोले—"रमा मुँह से बात करते झुँझलाना कौन सिखलाता है तुम लोगों को ?"

मैं अपने में सिहर उठी, बोली—"झीझना या खिझाना लाड़ प्यार के लिए होता है डाक्टर बाबू ! अब वह ज़माना नहीं रहा जहाँ मैं यह लाड-प्यार पा सकूँ।"

मेरे इस सहज और अनायास के उत्तर से डाक्टर निहाल हो उठे, बोले—"वाह वाह ! क्या पते की बात कही है, रमा। यही तो मैं भी कहता था कि रमा को हम पर विश्वास नहीं। लेकिन तुम्हारी सुजाता की अक्ल पर तो पत्थर पड़े हैं, जो तुम्हें यह सब एहसास नहीं होने देती।"

मैं सुन कर स्तम्भित रह गई। अपने को समेटती हुई प्रत्यक्ष में बोली—"आप मेरे जीजा हैं। आप के व्यवहार को और दीदी के दुलार को मैं भूली नहीं, डाक्टर साहब ! आप विश्वास करें चाहे न करें पर दीदी इसे खूब समझती हैं।"

तब राज मालूम है क्या हुआ ? डाक्टर आगे बढ़ आए और बड़े गम्भीर होकर बोले—"मुझे तुम से सहानुभूति है, रमा ! और चूंकि मैं बड़ा हूँ इसलिए दुलार का अधिकार भी समझता हूँ। पर तुम मेरे और अपने बीच दीदी के आश्रय को क्यों खोजती हो ?"

मैं बोली—"इसलिए कि दीदी के नाते ही तुम तक मेरा परिचय है और इस परिचय और सम्बंध के नाते परस्पर की सहानुभूति होनी आवश्यक भी है। पर इसके आगे मैंने कभी कुछ सोचने की भूल नहीं की।"

डाक्टर भौंचक्के-से हो गए, वह जाहिर था। पर मैं ही उनकी झेंप को मिटाने की कोशिश में डिस्पेंसरी से बाहर आ गई, यह कह कर कि दीदी खाने की इन्तजार कर रही होंगी।

राज, तुम्हारी पत्नी बनकर भी आज मुझे अनुभव हो रहा है कि पति के उस सबल आश्रय से मैं अपने को निराश्रय कर आई, नहीं तो किसी की क्या मजाल कि मुझ पर अपनी सहानुभूति की दुहाई देकर कहे—'हम तुम्हारे अपने हैं।' लेकिन मैं दोष भी किसे दूं ? मेरे घर की नींव ही अगर कमजोर न होती तो छत को गिराने की कोई चेष्टा भी क्यों करता ?

अब सुजाता और डाक्टर का आश्रय स्थायी आश्रय नहीं दीख पड़ता। डाक्टर से भय न खाकर भी मैं अपने से भय खाने लगी

हूँ। उनका सामना मुझे अच्छा नहीं लगता। सुजाता खाने के लिए बुलाती है तो मैं जान बूझ कर साथ बैठने से इन्कार कर देती हूँ। डिस्पेंसरी में जाती हूँ, लेकिन थोड़ी-सी देर के लिए ही। उस थोड़े-से अवकाश में इन दिनों डाक्टर से मुठभेंट नहीं हो सकी। परन्तु आखिर यह कब तक चलेगा ? घर तो यही है और घर वाले भी बेगाने नहीं हैं, जो उनसे मुँह छिपाती फिरूँ। जल में रहते हुए मगर से बैर तो नहीं किया जाता। इसी से यह सब चलने का नहीं। पर हो सकता है, इस चलने-चलने में सुजाता का स्नेह भी खो बैठूँ। अपने को धोखा देकर मैं सुजाता को धोखे में देखना नहीं चाहती। कौन जानता है, कब क्या हो जाए ? इसीलिए अब मन यहाँ से उचटा-उचटा हो रहा है। चारों दिशाओं से जैसे सभी दृष्टियाँ मुझे ही घूर रही हैं। काश कि इन नजरों से तुम मुझे बचा लेते ! लेकिन राज, तुम इन सब से परे हो। इसी से तो मुझ से दूर हो, अन्यथा पहचानने की भूल में मैं तुम्हें अकारण न खो देती।

दिल अब बुझ-सा गया है, फिर भी जिंदगी की हर साँस के साथ रंग, रूप और देह की रक्षा का भार ढोना ही पड़ता है। इन सबसे मुँह मोड़ भी तो नहीं सकती। मोड़ सकती तो तुम्हारी याद आ-आ कर मुझे बेबस न कर देती। देह को घुलाने के साथ-साथ भीतर की तमाम आकांक्षाओं का गला घोंट देती और सोचती कि जिन्दगी इनी-गिनी साँसों का आदान-प्रदान है, जब यह व्यापार समाप्त हो जाएगा। तब व्यापारिक वस्तु का अस्तित्व भी कम रह जाएगा।

सुजाता का कहना है कि अपने को शान्त रखने के लिए मन और शरीर का समझौता होना चाहिए अपने आप से समझौता

कर लेने पर ही मानसिक दुर्बलताओं पर विजय पाई जा सकती है।

राज, सुजाता कभी-कभी बड़ी समझदारी की बातें किया करती है। मैं उसका रोब न मान कर भी उसकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकती। केवल इसलिए नहीं कि आयु में वह चार वर्ष मुझ से बड़ी है, बल्कि इसलिए भी कि किसी के आदेश को मानने का मैं अभ्यास डालना चाहती हूँ। कभी-कभी अपनी स्वतन्त्र परिस्थिति से मुझे क्षोभ हो आता है, इसी से मैं चाहती हूँ कि किसी को अपना संरक्षक मान कर रहूँ।

इस संरक्षकता में कुछ सीख सकी तो लाभ ही उठाऊँगी, ऐसा मुझे विश्वास है। अच्छा तो अब लिखना बन्द ही करना पड़ेगा। नीचे आँगन में सुजाता की नौकरानी आवाजों पर आवाजें लगाए जा रही है। जाने कौन मिलने आई है लौट गई तो सुजाता कहेगी, कैसे कान बन्द करके बैठती है कि कोई आए-जाए, किसी पर ध्यान ही नहीं देती। इसलिए अब जाऊँगी।

अच्छा तो, विदा।

तुम्हारी ही रमा।

## तेरहवां पत्र

पिछले कुछ दिनों से बीमार थी, राज ! परसों से बुखार टूटा है। कमज़ोरी अभी है, पर जल्दी ही दूर हो जायगी, सुजाता मेरा बहुत खयाल रखती है।

सर्दियों की बरसात शुरू हो गई है, यहाँ बरसात बहुत नहीं होती, फिर भी सर्दी कड़ाके की पड़ती है। यहाँ की रात तो विशेष रूप से ठंडी होती है। रेत के कण बर्फ़ की भाँति ठंडे और जमे हुए होते हैं। रात को नंगा पाँव उन पर नहीं रखा जाता। फिर भी खिड़की की राह अक्सर देखा करती हूँ कि जाट लोग नंगे पाँव इन टीलों पर उतरते-चढ़ते रहते हैं, और एक कुएं की ओर आते-जाते दिखाई देते हैं।

इनमें परस्पर मन-मुटाव भी क्यों न हो, फिर भी इनके पारिवारिक सम्बन्ध बने रहते हैं और इन सम्बन्धों के कारण लेन-देन भी चलता रहता है। एक हाँडी पके तो दूसरे का हिस्सा भी उसमें अवश्य होगा। एक के खेत में यदि मूलियों की भरमार होगी तो दूसरा खेत वाला उससे लाभ न उठाए, यह हो ही नहीं सकता। जहाँ मैं बैठी हूँ उसके ठीक बाँई ओर एक खेत है। इस खेत में कुआँ है। इस खेत का मालिक डाक्टर के यहाँ आता-जाता रहता है। उसकी पत्नी दमे की बीमारी से पीड़ित है। वह जब दवाई लेने जाता है तब ताज़ी सब्ज़ियाँ और ईख की पोरें साथ में ले आता है। सुजाता उन्हें लेना नहीं चाहती, फिर भी वह ज़ोर-

ज़बरदस्ती से आँगन में रखे तख्त पर रख जाता है। पर मैं सोचती हूँ, सीधे-सादे वातावरण में पले हुए ये लोग, कितने व्यावहारिक हैं। ऐहसान कहीं मानवीय भावनाओं का गला न दबोच दे, इसी आशंका के कारण वह ग़रीब किसान हर-रोज नई ताज़ी सब्ज़ियों की टोकरी भर लाता है, वरना एक शीशी दवाई की कीमत इन सब्जियों के बराबर में कुछ भी नहीं है। और फिर, डाक्टर अपने पल्ले से कुछ नहीं करते। यह तो सरकारी अस्पताल है। उसके घर एक बार मैं भी गई थी, बीमार पत्नी सो रही थी, पर मल्लू किसान ने अपनी बेटी का परिचय मुझसे करवाया। उस की बेटी का नाम सईदा है—खूब लम्बी-लम्बी-सी, स्वस्थ और भरी-भरी सी, रंग-रूप भी बहुत अच्छा है। उसका इकहरी लपेट का रंगीन घाघरा पीछे की ओर से एड़ियों को ढ़ाँप रहा था और आगे की ओर से पाँवों के घुटनों से उठता हुआ था। ऊपर लाल कुर्ता, जिस के गले की पट्टी पर चाँदी की जंजीर वाले बटन लटक रहे थे। सिर पर उसने मोटी लाल रंग की फुलकारी डाल रखी थी, जिस पर रंग बिरंगे रेशम का काम किया हुआ था। सच कहती हूँ राज, उतना सुन्दर स्वास्थ्य मैंने कभी किसी लड़की में नहीं देखा। खूब भरा-भरा गुलाबी चेहरा, उस पर बड़ी-बड़ी काली कजरारी आँखें, गालों तक झूलती हुई चाँदी की बालियाँ, मानों ये ये सब चीजें उसके रूप के चार चाँद लगा रही थीं। परिचय देते समय मैं उसे केवल देखने की स्थिति में थी, अपने को सर्वथा भूल गई थी। इसी से अपनी ओर लगातार अजनबी की तरह ताकते हुए देख सईदा बोली—"अब्बा यह कौन हैं ?"

मल्लू ने कहा—"यह जो डाक्टरनी हैं न उनकी छोटी बहन हैं, शहर से आई हैं।"

"अच्छा, तब तो शहर की बातें मैं रोज इन से सुना करूँगी। क्यों जी, सुनाओगी न ?"

हाँ, हाँ ज़रूर !... तुम हमारे घर आना शुरू तो करो, फिर देखना कितनी तरह की बातें बताऊंगी।"

मेरी बात पूरी तरह उसकी समझ में नहीं आई, इसी से अपने बाप की ओर उसने प्रश्नसूचक दृष्टि से देखा। मल्लू ने कहा—"कह रही हैं, हमारे घर आया करोगी न।"

सुनकर वह ज़रा हँस पड़ी। हँसते हुए उसके उभरे-उभरे गालों में जो गहरे गढ़े पड़े, उन्हें मैं देखती ही रह गई। उसकी उन्मुक्त और मीठी हँसी से मैं निहाल हो उठी।

दीवार के सहारे लटका हुआ एक पीढ़ा उसने उठाया और उसे नीचे रख कर कहा—"अब बैठो भी।"

मल्लू बोला—"मेरी लक्खो दहेज में यह पीढ़ा ले आई थी, इसे हम कभी-कभी ही बिछाते हैं।" मैंने एक दृष्टि अपने पीछे पीढ़े पर डाली। उस पर रंग-बिरंगे छोटे-छोटे शीशे जड़े हुए थे। तभी सईदा काँसी का कटोरा उठाए हुए मेरे पास आई और बोली—"ताज़ा दूध है, बड़ा मीठा है, पी कर तो देखो।" दूध और वह भी इस समय, कहने के साथ ही मैं ने सईदा की आँखों में देखा। मेरी बात वह तब भी नहीं समझी, इसी से बोली—"मीठा नहीं डाला, इस भैंस का दूध ही बड़ा मीठा है। पी कर तो देखो।" उसकी आँखों की उत्सुकता और उसके चेहरे पर छाया भोलापन देख मैं दूध पीने से इन्कार नहीं कर सकी। कटोरा लेकर मैंने मुँह से लगा

लिया। सईदा ने गलत नहीं कहा था, दूध सच ही बड़ा स्वादिष्ट और मीठा था।

सईदा से ये मेरी पहली मुलाकात थी।

उस के पश्चात् उसने सम्पर्क बढ़ाया—इतना कि उस सम्पर्क में मैं अपने को सम्हाल न सकी। सईदा के सवालों का जवाब देना कभी-कभी बड़ा कठिन हो जाता। एक दिन उसने बताया कि पास वाले खेत उसके मंगेतर के हैं। पूछने पर निगाह नीची करके उसने कहा—"हाँ, अगले साल विवाह हो जाएगा। अभी-अभी उनकी बहन की मौत हुई है।"

अपना भेद दे कर उसने मुझ से पूछा—"तुम लोग बहुत उमर में शादी करवाती हो ?"

"हाँ," मैं ने सहमते हुए कहा।

"तो तुम्हारा मंगेतर कहाँ रहता है ?" बड़े भोलेपन से सईदा ने पूछा। "अभी तो मंगनी भी नहीं हुई," मैं ने कहा।

"दुत् तेरे की। मैं डाक्टरनी से कहूँगी बहन के लिए मंगेतर ढूँढ़े। भला, ऐसा भी कहीं हुआ है।" ठुड्डी पर हाथ रखे उस ने बड़ी बूढ़ियों की सी मुद्रा में कहा।

उसे इस तरह भावुक और समझदार बनते देख मैं ज़रा हँस पड़ी, मेरी हँसी से वह रूठती हुई बोली—"क्या मेरी बात अच्छी नहीं लगी ?"

"लगी तो, पर क्या करूँ, मेरी बहन मेरी शादी करना ही नहीं चाहती।"

"अच्छा ! यह तो और भी बुरी बात है।" फिर धीरे से मेरे पास खिसकती हुई बोली—"अपनी शादी करवा ली और

तुम्हें कुँवारी रखेगी, कैसी अजीब बहन है ? मैं अब्बा से कहूँगी, डाक्टर साहब को समझाएँगे ।"

सुन कर इतनी जोर से मैं हँसी कि वह हैरान रह गई ।

राज, इन लोगों के साथ बैठना मुझे अच्छा लगता है । इन के रहन-सहन के तरीके कितने सादे और कितने दिलचस्प होते हैं । कम ज़रूरतें और उतने ही कम झमेले ।

सईदा कह रही थी, उसका मंगेतर छिप-छिप कर उसे जुआर के खेतों से देखा करता है और जब पास इर्द-गिर्द कोई नहीं रहता तब उसे तोता-मैना का किस्सा गा-गा कर सुनाता है । सईदा का कहना है कि उसके मंगेतर को बहुत तरह के किस्से ज़बानी याद हैं । बड़ी भोली और मजेदार लड़की है, जब कभी अकेले में मन नहीं लगता तब उसे बुला लेती हूँ । उसकी निजी बातों के अतिरिक्त मैं और भी अनेक बातें उस से पूछा करती हूँ ।

कल वह मेरी खबर लेने आई तो उसने एक छोटी-सी चाँदी की डिबिया मुझे दिखाई । कह रही थी कि उसे उसने माँ और अब्बा से चोरी-चोरी खरीदा है । मेरे पूछने पर उसने जवाब दिया—" मेरी पायजेब की लड़ियाँ टूट गई थीं । माँ समझती थी कहीं गिरा आई हूँ, पर मैं ने सम्हाल कर रख दिया था, दो दिन बाद लोहड़ी का मेला है, हम लोग हीर माई की कबर पर जायेंगे ।"

मैंने बात काट कर पूछा—"हीर माई की कबर पर मेला देखने ?"

वह बोली—"हाँ, साल में एक दिन यहाँ मेला लगता है । इस दिन जो भी वहाँ जाते हैं किसी न किसी मुराद को पूरी करने की इच्छा से जाते हैं और हीर माई उन की मुरादें पूरी कर

देती हैं।

"अच्छा, तब तो मै भी चलूंगी," मैं ने कहा। वह जल्दी से बोली—"तुम्हारी क्या मुराद है ?"

"मेरी बहुत सी मुरादें पूरी होने को हैं, सईदा ! तुम नहीं समझती," एक गहरी निश्वास मेरे मुंह से निकल गई। सईदा ने घबरा कर कहा—"रब खैर करे। अच्छा तो मैं चलती हूँ, अब्बा मुझे आवाज़ दे रहे हैं।" यह कहते-कहते वह चाँदी की डिबिया दिखाते हुए बोली—"पीरू को मेले में दूँगी, अब्बा को बताना नहीं।"

"जरूर देना सईदा," मैंने बुझे हुए स्वर में कहा। राज, हाथ सेंकने की कोशिश करती हूँ, वहीं मैं झुलस जाती हूँ। सईदा की बातों से मन बहलाती-बहलाती मैंएकाएक उदास हो गई। मालूम नहीं, यह मेरा कैसा स्वभाव है, किसी को खुश देखती हूँ तो अपनी बीती खुशी याद हो आती है और किसी को दुःखी देखती हूँ तो अपने से बराबरी कर बैठती हूँ।

खुशी-गमी के इस दरिया में मेरी भावनाएं रह-रह कर उथल पुथल मचाती रहती हैं। रोकूं तो कैसे ? पृथक होने की अवधि ज्यों-ज्यों अपना साया फैलाती जा रही है, त्यों-त्यों भीतर का घना कुहरा बढ़ता जा रहा है। भय से काँप-काँप जाती हूँ कि कहीं इस घने कुहरे में मेरी आशा का दीप ही न बुझ जाए। सर्दी भी बढ़-सी गई है और मैं काँप भी रही हूँ।—न जाने सर्दी के कारण या इस भीतरी अन्धकार के कारण। मेरी कमजोरी ठीक होते ही वह धर्मशाला जाएगी। कोठियों के बेचने की बातचीत हो रही है, डाक्टर साहब को छुट्टी नहीं मिल रही। देखो तबियत ठीक हो गई तो शायद मैं भी जाऊंगी, मगर अभी नहीं।

लेकिन एक बात तो तुम्हें बताई ही नहीं राज : बड़े मज़े की बात है। सुजाता का दावा था कि बुखार टूटते ही मैं अपनी ज़िद पर से हट जाऊँगी, लेकिन बाज़ी मैंने ही जीत ली है। बुखार में जो बड़बड़ा उठती थी, उसी को मैंने दोहराया—"खेतों के पार, रेत के टीलों के पीछे जो दिखाई दे रही है, उसे मैं अवश्य देखूंगी।"

सुजाता को हार खानी पड़ी। अन्त में उसने चौकीदार से कह दिया कि ताँगा लाओ और हीर की कब्र पर चलो।

आज अभी-अभी वह कब्र देख कर आई हूँ। सुनती थी कि वह प्रेम जो दुर्लभ था वही सत्य था। सो उसी सत्य के परिमाण की निशानी देखने को जी मचल उठा। चार मील का रास्ता था। मैं कमज़ोर थी। सुजाता मुझे सम्भाले हुए थी कि कहीं धक्के से मेरे कमज़ोर शरीर की हड्डियाँ चटक न उठें। पर राज, देखने के शौक ने मुझ में साहस भर दिया था, मैंने रास्ते का सफ़र बिना किसी नुकसान के सम्हाल लिया।

ऊंची चबूतरी की वे पक्की ईंटें बड़ी मज़बूत हैं। ऊपर का हिस्सा गोलाकार है, जिस पर छत की व्यवस्था भी नहीं की गई। पर सुनते हैं, बरसात आए, आँधी चले, क्या मजाल कि उस खुले भाग से बरसात की एक भी बूँद हीर की सेज पर पड़े, या आँधी का कोई तिनका उड़ कर उस पर आ गिरे।

चारों ओर का निरीक्षण करती हुई मैं उस लाल पल्लू की ओर देखने लगी, जो कबर के एक कोने की ओर से भीतर से बाहर लटक रहा था। मालूम होता था जैसे हीर के साथ किए गए अन्याय के प्रति वह आज भी खून के आँसू बहा रहा है। उस पल्लू की सुर्खी पर अब कुछ मटमैलापन आ गया है, जैसे रोते-रोते आँखों के

आँसू आँचल पर गिर-गिर कर अपने धब्बे छोड़ गये हों।

बैठी-बैठी मै सोच रही थी। यह लाल पल्लू हीर के गोरे-गोरे बदन पर कितना खूबसूरत दिखाई देता होगा! हाँ, उसकी वेशभूषा कितनी सुन्दर रही होगी। दुल्हन के रूप में ही तो वह भीतर समा गई थी। पर जाते-जाते वह अपने दुल्हन होने की निशानी छोड़ गई, ताकि दुनिया समझ सके कि मरने से पहले नारी को दुल्हन बनने की कितनी बड़ी साध होती है।

वहाँ से बाहर आई तो देखा कि एक पतला-दुबला लड़का जिसके चेहरे पर की सफेदी पीलेपन में बदल चुकी थी, और जिस की आँखें निरन्तर की प्रतीक्षा से थक चुकी थी, खोई-खोई दृष्टि से इधर-उधर ताकता हुआ बाँसुरी पर अपनी विकलता प्रकट कर रहा है। नजदीक आई तो सुजाता से मालूम हुआ कि लड़के का दिमाग ठीक नहीं, रात भर इस कबर के चारों ओर घूमता रहता है, दोपहर होते ही नदी की ओर चल पड़ता है।

चलते-चलते सुजाता ने बताया—"लड़का किसी से प्रेम करता था, मगर वह लड़की उसे दगा दे गई।" सुनते ही अंगुली मुँह में दाबे मैं भीतर ही भीतर विचलित हो उठी। सुजाता कहती गई—"घर वाले इसे लाख समझाते है, पर मूर्ख समझता ही नहीं। दीवाना हो रहा है उसके पीछे।"

"कहाँ रहती है वह लड़की?" मै पूछ ही तो बैठी।

"अपनी ससुराल में है, रमा! लड़की समझती थी, क्या रखा है इस चरवाहे के यहाँ। पेट की भूख के आगे, प्रेम के सब स्वप्न उड़ जाते हैं। लड़की नादान नहीं निकली। कम-से-कम सुख से रहेगी और भर पेट खाएगी। खाली प्रेम कहीं पेट की भूख मिटा

सकता है।"

मैंने कहा—"लेकिन इस बेचारे की ज़िन्दगी का क्या कुछ मूल्य नहीं ?"

"जिन्दगी बनी नहीं होती, रमा ! बनाए से बनती है। मुझे ही देखो न। जीवन के साथ अगर मैं विवाह कर लेती तो भूखा रहना पड़ता। जाने लोग क्यों प्रेम के पीछे दीवाने हो रहे हैं। सुनती हूं, जीवन किसी प्राइवेट फर्म में क्लर्क है। क्या जिन्दगी है क्लर्कों की भी !" कहते-कहते सुजाता जरा हँस पड़ी। उसकी हंसी से मुझे घृणा हो आई। मैंने याद किए वे दिन, जब सुजाता कालेज में पढ़ती थी। माँ उसे बहुत कहती कि घर वक्त पर आ जाया कर, लेकिन माँ से प्रतिज्ञा करके भी सुजाता कभी समय पर न आती। तब एक दिन उसका राज़ पकड़ा ही गया। जीवन के साथ वह कालेज से ही कहीं घूमने को चली जाती थी।

ओफ ! उस जीवन की क्या बात कहूँ। सुजाता के पीछे वह पागल था, लेकिन किस्मत ने उसका साथ न दिया। बी०ए० करने के बाद उसपर घर का बोझ आ पड़ा, पिता की अकाल मृत्यु से उसे जो दुख हुआ, वह तो हुआ ही परन्तु इन्हीं दिनों डाक्टर संयोग से आ पधारे।

संयोग की ही तो बात थी राज, जो सुजाता जीवन के साथ अठखेलियां करती-फिरती थी वही अब डाक्टर के साथ शाम को सैर को जाती। याद है मुझे सुजाता किस कदर मोटर की सैर से खुश थी। डाक्टर जीत गए और जीवन की याद उस जीत में धुंधली रेखा बन कर धीरे-धीरे विलीन हो गई।

जीवन की ज़िन्दगी से खेल कर सुजाता डाक्टर के साथ आ गई और अब बच्चे हैं, पैसा है, मान है। और चाहिए ही क्या ? सुजाता अपने जीवन से भरपूर है। वह ज़िन्दगी को सत्य मानती है। सपने उसके विचारों को घेरते नहीं, कल्पना उसके सिद्धान्त के आगे कोरी और फीकी है। ठीक ही तो है। जीवन का सच्चा स्वरूप जीवन को जीवन मान कर बिता देने में है। क्या रखा है अतीत की याद में और कौन जानता है भविष्य की बात।

यह स्थान और यहाँ के लोग सब बड़े अजीब-से हैं। यहाँ के वातावरण में एक कुतूहल-भरा रोमाँस है। शाम को लड़कियों के झुंड के झुँड खेतों में जाते हुए दिखाई देते हैं। उनकी ओर देख कर मैं अकसर बेताब हो उठती हूँ। उनके गानों में एक रस-सा उमड़ता रहता है। हर टोली में कोई न कोई नववधु होती है, जिसे घेर कर बहुत-सी लड़कियाँ हंसी-ठट्ठा करती हुई दिखाई देती हैं।

अगर किसी दुल्हन का विवाह किसी बड़े शहर में होता है तब उसकी सहेलियों की ललचाई हुई आँखों के भाव देखने योग्य होते हैं। अपनी सहेली के लौटने के विषय में वे अनेक बातें पूछती हैं। वहाँ की अजीब-अजीब चीजों के बारे में बहुत कुछ सुनने को वे अक्सर बेजार-सी दिखाई देती हैं। सुजाता की नौकरानी की लड़की को लेकर मैं कभी-कभी घूमने चली जाती हूँ। यों बातें करने में नौकरानी की लड़की श्यामा भी बड़ी तेज है। दुल्हन बनने की धुन हर समय उस पर सवार रहती है। मैंने प्रतिज्ञा कर रक्खी है कि उसके विवाह पर मैं उसे लाल रंग की साड़ी और उसी रंग से मेल खाने वाले सैंडल अवश्य भेंट में दूंगी। आज उसने इन चीजों के

साथ-साथ एक और चीज़ की इच्छा प्रकट की है। कहती थी, इत्र की शीशी ज़रूर होनी चाहिए। सुन कर राज, मैं खिलखिला पड़ी। कैसी बेहूदी लड़की है। भला जिसके साथ ब्याही जायगी, क्या वह स्वयं इन चीजों की व्यवस्था नहीं करेगा ?

लेकिन क्षण-भर बाद मुझे याद हो आया कि तुमने भी तो कभी ये चीजें लाकर नहीं दी थीं। न सुहागरात के दिन और न ही उसके बाद। इन चीज़ों का लगाव मुझे न रहा हो, यह बात तो न थी। पर तुम्हारी इस ओर की उदासीनता को देख कर मैं मन मसोस कर चुप हो गई थी।

अरे, मैं कहाँ से कहाँ बहक गई। बात तो कह रही थी यहाँ के लोगों के विषय में और बीच में ला दिया अपने को। पूरी अहमक हूँ न, बात कहते-कहते बात से पिछड़ जाती हूँ, जैसे कानों में उतर जाने का ढंग मुझ में नहीं बातों में है।

यहाँ की साँझ बहुत सुहावनी होती है, राज ! सूर्य अस्त होने का समय भी दर्शनीय होता है। खेतों पर किरणों का सुनहरा जाल बिछा हुआ होता है और उधर रेत के टीले सुनहरी साँझ से दमक उठते हैं। इन्हीं टीलों के पीछे सूर्य की लाल रोशनी क्षितिज में फैल जाती है। मैं अक्सर अपनी छत की मुँडेर पर खड़ी-खड़ी देखा करती हूँ। यह समय मुझे बहुत ही अच्छा लगता है। उधर खेतों के इर्द-गिर्द लड़कियों के झुँड इधर से उधर चहल-कदमी करते हुए दिखाई देते हैं। इन सब में ज़िन्दगी का सच्चा स्वरूप देखने को मिलता है। रंग-बिरंगे कपड़ों में झुमती हुई ये लड़कियाँ वीर–वधूटी-सी दिखाई देती हैं।

पास वाले मन्दिर का घंटा बज उठा है। गलियों में से छोटे-छोटे लड़के पंडित जी से प्रसाद पाते ही खुशी में भाग-भाग कर मन्दिर की ओर बढ़े जा रहे हैं। लो, सुजाता ने भी आरती के लिए बच्चों को बुला लिया है। विनोद और मुन्नी के साथ मुझे भी उस आरती में शामिल होना पड़ता है। अच्छा तो अब चलती हूँ, नहीं तो सुजाता कहेगी, नास्तिक है।

तुम्हारी रमा।

## चौदहवां पत्र

मेरे अच्छे राज,

सोचती हूँ इतना जो सब लिखती हूँ क्यों लिखती हूँ ? मन की वेदना जो प्रगट करने के लिए मैं तरह-तरह के साधन अपनाती हूँ, पर वास्तव में जो लिखा जाता है उन सब में मेरी समर्थता कहाँ होती है !

बहुत दिनों से लिखने की आकांक्षा बार-बार प्रबल हो जाती थी। पर जैसे लेखनी का साथ न बन पाता हो, इसी से लिखा स्वीकार न कर लिख-लिख कर फाड़ देती थी—इस ख्याल से कि भावना के उद्रेक के अतिरिक्त उसमें और है ही क्या ?

राज, विश्व के मूल में ऐसा कौन-सा यज्ञ है जिस में भावनाओं की आहुति देते देते मनुष्य की तमाम शक्तियाँ चूक जाती हैं, परन्तु वह यज्ञ कभी पूरा नहीं हो पाता ? त्याग-त्याग कर भी आत्मा उस त्यागे हुए की ओर ही भागती है, क्या यह लोभ नहीं ? मोह नहीं, जिसमें त्यागा हुआ भी पल्ला खींच कर हमें पीछे मुड़-मुड़ कर देखने को प्रेरित करता है।

मैं मानती हूँ, पीछे मुड़-मुड़ कर देखना कायरों का काम है। आगे जो आए उसे ही सत्य मान कर अगर चला जा सके तो सत्य-झूठ को धर्म के पलड़े पर तोलने की जरूरत भी न पड़े।

पर मैं कहती हूँ अगर पीछे मुड़ कर देखना सच ही कायरता है तो सबल का प्रेरक हमारे लक्ष्य का प्रतीक क्यों नहीं बन पाता ?

रह-रह कर सोचती हूँ कि जिससे मन को जरा भी शान्ति मिलती है, उसे हम सत्य मान कर बचा क्यों नहीं सकते ? सभी ओर एक ऐसा वातावरण है कि मन को किनारे रखकर शारीरिक सुख का उपयोग किया जा सकता है। स्थायी आनन्द वह भले न बने फिर भी आनन्द तो है ही। इससे से इन्कार तो नहीं किया जा सकता।

सब कुछ त्याग कर जो मैं खरी हो आई थी, उसी खरेपन पर तो मेरा विलास टिका था। इसीलिये चाहा कि बेहोशी की नींद का तनिक सहारा ले लूँ। इसी से विजय को घर में तीन दिन तक रखा। उसके सिरहाने बैठे-बैठे मैं उसे निहार ने की चेष्टा भी करती रही, पर ज्यों ही उसकी नजरें मेरी नजरों से मिलतीं तभी तुम्हारी अदृश्य आँखें मेरी आँखों की ज्योति को जैसे लील-लील लेती थीं, मेरे होठों की मुसकानों को तुम्हारी गम्भीर हंसी आ-आ कर छीन लेती थी। तभी मेरे तन-मन की बेहोशी जैसे आग की चिनगारी के लगने से तड़प उठती थी और मैं विजय के पास से उठ आती थी और अपने में रखे उस छोटे से आइने के सामने अपने चहरे से पूछने लगती थी—"कहो तो नोच डालूँ तुम्हें। न देखो और न दिखाओ, यही तो चाहते हो ? बोलो, बोलते क्यों नहीं ? ओफ !" काश कि मैं सचमुच ही इसे नोच डालती, पर भला हो विजय का जिस ने इसे नोचने से मुझे बचा लिया।

राज, मुझे इस निसर्ग से विसर्जित हो जाने की प्रेरणा मिल रही है। परन्तु मैं हूँ जो विसर्जित होते-होते बच जाती हूँ, क्योंकि मैं तुम्हें पति मान कर भी प्रतीक नहीं मान सकी। इसी से

विसर्जित हो जाने का विचार बना रहता है। पर, पर मुझ में यह साहस भी कहाँ है ? इच्छाओं ने मुझे, मेरी आत्मा को दुर्बल बना रखा है। लेकिन तुम्हारे प्रति मेरा प्रेम गहरा है, बहुत गहरा है। यह राज, आज जब कि तुमसे हज़ारों मील की दूरी पर बैठी हूँ, अनुभव कर रही हूँ। कभी वे दिन थे जब मुझे अपने प्रेम में विश्वास न रहा था। प्रेम के बदले प्रेम मिलता है, यह भावना मेरे सच्चे विश्वास को उखाड़-उखाड़ देती थी और मैं समझती थी कि प्रेम की उमंग में खेल खेला जा रहा है। वह प्रपंच का खेल मुझे भाया नहीं, इसी से उस खेल से ऊब उठी थी। उस खेल में दिलचस्पी जैसे रही ही नहीं थी। ऐसा तब मालूम होता था। पर आज राज, मैंने तुम्हें खो कर भी अपने प्रेम को पा लिया है। इस प्रेम के पारखी तुम न सही तुम्हारी याद तो है, जो एक बार भुला देने की कोशिश में सौ-सौ बार याद हो आती है।

तुम्हें अकेले में याद करना बहुत अच्छा लगता है। सच मानो नित्य नेम पूजा, अर्चना सब कुछ मेरे लिए यही हो गया है। जब एक दम स्मृति उमड़ आती है तब हज़ार काम भी छोड़ कर मैं अपने कमरे में आ बैठती हूँ। खिड़की में बैठी दूर तक देखती रहती हूँ—इस तन्मयता से कि जैसे तुम्हारे संग बीते हुए प्रसंग साक्षात दिखाई दे रहे हों। कितना अच्छा लगता है तब मुझे। मालूम होता है जैसे सृष्टि का सारा सुख, तमाम आशाएं केवल इसे देखने को क्रिया में प्रस्तुत हो उठी हों।

पर जैसे ही सन्ध्या का धुंधलापन गहरा हो उठता है, मैं अचकचा कर उठ बैठती हूँ—इस आशंका से कि संध्या का

धुंधलापन मेरे मन में कहीं एक हूक बनकर न घुस आए।

रह-रह कर सोचना, मुड़-मुड़ कर देखना, ठिठक-ठिठक कर चलना किस की जिन्दगी में नहीं आता, राज ? पर भेद खोलने वाली अगर सभी मेरे तरह की होतीं तो तुम पुरुषों की आस्था हम से विपरीत न होती। तब तुम लोग भी समझते कि भेद-भाव को किनारे रख कर प्रकृति अपना खेल खेल रही है। तब दोष चुन-चुन कर केवल स्त्री के लिए ही निकाले जाते।

पर कहा न कि सभी एक-जैसी नहीं होतीं। सब कुछ छिपा कर ताक पर रख देती हैं। कहने का साहस हो नहीं पाता, क्योंकि लाँछन को स्वीकार करने के लिए उनमें आत्म-शक्ति नहीं जुट पाती।

सती-साध्वी की साधना और उसका सतीत्व पुकार पुकार-कर कहता है—"क्यों मुझे आवरण में ढाँप रखा है ?" खुलने का अवसर मिले तो वह यही कहे कि प्रपंच रच कर उसे केवल ठगा गया है। भीतर जो है वही सत्य है। बाहर का छिछला रूप उसका प्रतिद्वन्द्वी है, जो चिल्ला-चिल्ला कर बाज़ी जीतने को उत्सुक हो रहा है। और राज, कमाल की बात तो यह है कि सत्य दब जाता है और झूठ पनप जाता है और उसी को लक्ष्य कर दुनिया कहती है—"यही तो वह भक्ति है, यही तो वह प्रसाद है जो नारी के जीवन की सब से बड़ी निधि है !"

कौन जानता है। इस निधि में क्या है ? मगर मैं दावे के साथ कहूँगी, सब कोरी बात है। कोई अपने को भ्रान्ति में रख कर भी टटोल लेता है, और कोई उस भ्रान्ति में ही मदमस्त रहता है।

जो टटोल कर अपने-आप को हाथ की हथेली पर लाकर रख देते हैं वे ही वास्तव में साहसी हैं, अन्यथा सब गलत है, धोखा है।

लाज, मान और प्रतिष्ठा का खयाल अगर मुझे भी रहता तो तुम्हारे सामने यों मुँह खोल कर न कहती-फिरती कि तुम्हारी याद को साथ लेकर भी मैंने तुम्हारे अतिरिक्त किसी और के सम्पर्क में आने की चेष्टा की थी।

प्रेम का घर नहीं होता राज, इसी से तो इस के सहारे बेघर हो गई हूँ। तुम्हारे पास रहती तो मेरी पहचान भी कैसे होती। कैसे तुम भी समझ सकते कि तुम्हारे अतिरिक्त जिस की कामना मैंने की है, वह अतिरिक्त ही रह गया है। याद है एक रात तुम सोते से उठ कर धीरे से नीचे चले गये थे, यह जान कर कि तुम्हारे काम में खलल डालने वाली अब सो रही है। मुझे कुछ मालूम नहीं हुआ। करवट बदली तो एकाएक आँख खुली, देखा साथ वाला बिस्तर खाली है। कमरे के चारों ओर देखा, तुम नहीं थे। मैं पलंग से उठ बैठी। याद आया शाम को तुम कुछ अन-मने-से थे, शायद मेरा कुछ व्यवहार तुम्हें अच्छा नहीं लगा था। बात कुछ नहीं थी, यों ही मूड ठीक नहीं था। फिर भी सोचा नहीं था कि तुम्हें कुछ बुरा लगा है। पलँग से उठी तो बारजे में आई, फिर गैलरी से होती हुई नीचे की सीढ़ियों पर आ कर ठिठक गई, तुम्हारे कमरे में प्रकाश की रेखाएँ छनछनाती हुई खेल रही थीं, तुम जाग रहे थे और काम कर रहे थे। जी हुआ, मना लाऊँ। कदम आगे बढ़ाए, पर दूसरे ही क्षण लगा कि अनुचित को प्रश्रय देने वाली हूँ। बिना तुम्हारे सोया नहीं जा सकेगा क्या? उलटे पाँवों धीरे-धीरे लौट आई, कमरे में आई तो निगाह फिर तुम्हारे बिस्तर पर पड़ी, वह वीरान...अ.ल-

सा था, सिलवट का कहीं निशान भी नहीं था। लगा जैसे खुले दूधिया मैदान पर से कोई पक्षी पँख फड़फड़ा कर उड़ गया हो और सस्ताने के लिए क्षण-भर भी वहाँ न रुका हो। जी भर आया। बारजे में आकर खड़ी हो गई। आसमान धुँधला-सा था और कहीं-कहीं नन्हें उदास तारे टिमटिमा रहे थे, मेरे अधमुँदे होठों से निकला—"अभी सवेरा होने में काफ़ी देर है।" हवा वृक्ष के पत्तों पर थिरक रही थी और पेड़ों की शाखाएँ हिल रही थीं। मेरे दोनों हाथ लोहे के जँगले पर थे, चाहा, धीरे-से भाग जाऊँ—उसी तरह जैसे तुम बिस्तर से उठ कर चले गए थे। पर मैं खड़ी रही, सोचती रही—क्या तुम्हें बुला नहीं सकती? कमरे के दरवाजे पर के पर्दे हवा से धीरे-धीरे जब हिलते तब हर घड़ी मुझे आभास होने लगता जैसे तुम आ रहे हो। उचक कर देखने की अपेक्षा मैं तुम्हारे कदमों की धीमी आवाज़ को सुनने की चेष्टा करती रही, पर कितनी भूल थी मेरी! तुम तो नीचे ही थे। यह जानते हुए भी मैं तुम्हारे आने की आहट सुनने की भूल में थी। इसी प्रकार जैसे तुम से दूर बैठी आज भी हर समय कल्पना किया करती हूँ जैसे तुम मुझे लिवाने आ रहे हो।

तुम्हारी रमा—

## पन्द्रहवां पत्र

राज,

आज अभी-अभी सो कर उठी हूँ। सुबह बड़ी सुहावनी है। रात नींद भी ऐसी आई कि आँख लगते ही सवेरा हो गया। आँख शायद अब भी न खुलती, यदि खिड़की के सींखचों पर बैठी हुई चिड़िएं न चहचहा उठतीं।

ठीक नीचे पीपल का पेड़ है। रंग बिरंगे पक्षी भोर होते ही पेड़ की टहनियों पर आ बैठते हैं। मधुमास का आगमन है। इधर-उधर पक्षियों का उड़ना और चहचहाना बड़ा भला लग रहा है। कितना सुहावना प्रात है! आज घूमने की अपेक्षा कलम ले बैठना ज्यादा ज़रूरी मालूम हुआ, इसी से कल और उसके दो दिन पहले की घटनाओं का उल्लेख करने बैठ गई हूँ। क्या करूँ तुम्हें सब कुछ बताए बिना चैन नहीं पड़ता।

आज से चार दिन पहले अचानक ही मेला देखने की बात चल पड़ी। सुजाता को मेरा बहुत ख्याल था। जिस उद्देश्य के लिये लोग मेला देखने जाते हैं, उसकी चर्चा सुन सुजाता ने मुझे भी चलने के लिए तैयार किया। यहाँ से पन्द्रह कोस की दूरी पर एक दर्शनीय स्थान है। हर साल वहाँ मेला लगता है, फकीर की समाधि पर। सुनने में आया है कि हर तरह की बीमारी, हर तरह की मुरादें पूरी करवाने के लिये ही लोग इस मेले पर जाते हैं। मेरी बेकली और मेरे चित्त की उद्विग्नता कुछ दिनों से बीमारी के कारण अधिक बढ़ गई थी, सो उसी को दूर करने के मतलब से

सुजाता ने मुझे तैयार किया। वह हंसते हुए बोली—"प्रेम के रोगी बहुत जाते हैं वहाँ और यहाँ की प्रेम-कथायें बड़ी मशहूर हैं।" मैंने उसकी ओर देखा। वह उसी तरह मुसकरा रही थी। मैंने जाने का इरादा पक्का किया।

सईदा और उसकी माँ भी हमारे साथ ही जा रही थीं। उस मेले में जाने के लिए ऊँचे-ऊंचे रेत के टीलों को पार कर के दरिया भी पार करना पड़ता। सवारी के लिये ताँगों आदि का इन्तज़ाम नहीं होता। यहाँ ऊँट की ही सवारी करनी होती है। यह पहला ही अवसर था कि मुझे ऊँट की सवारी करनी पड़ी थी। बड़ा अजीब-अजीब सा लग रहा था। इधर से उधर और फिर एक दम ऊँचा उठ कर नीचे की ओर झुक जाना पड़ता था। लेकिन राज, खूब मजे की सवारी होती है। शंका से भरा हुआ मन हिचकोले लेने लगता है, तब बरबस ही हंसी फूट पड़ती है।

खैर, सुबह के चले हुए हम करीबन शाम के सात बजे वहाँ पहुँच सके। रात तम्बुओं के नीचे गुजारी। सुबह हुई तो लोगों के झुंड के झुंड चारों ओर दिखाई देने लगे। समाधि एक ऊँचे पथरीले टीले पर थी, जहाँ सफेद चोगा पहने एक फ़कीर बैठा था, आँखें मूंद कर। आस पास हज़ारों आदमी उसकी आँख खुलने की इन्तज़ार में थे। ज्योंही उस फकीर ने आँखें खोली त्यों ही उसके चेलों ने राख के भरे मटके उसके आगे बढ़ाए। फकीर चुटकी भर राख एक-एक के हाथ में देता और लोग उसे माथे से छुआ कर अनेक धन्यवाद के साथ चढ़ावे के पैसे समाधि के आगे रख देते थे।

सुजाता ने मुझसे भी कहा—"जो चाहती हो उसी का ध्यान करो, फ़कीर का आशीर्वाद तभी सफल होगा"।

"अच्छा !" आज्ञाकारिणी की तरह मैं आगे बढ़ी और राख की चुटकी ले जल्दी से नीचे उतर आई।

मेरे नीचे उतरने पर एक बूढ़ी औरत अपनी इकलौती पतोहू को लेकर फकीर के पास पहुँची। लड़की पीली, दुबली-पतली और रोगिणी सी लग रही थी। फिर भी समाधि तक वह पहुँच गई। चुटकी की राख को ले कर ज्यों ही वह नीचे उतरी त्यों ही उसे गश आ गया और उसी बेहोशी में वह कुछ मिनट तक चीखती चिल्लाती रही। मैं पास खड़ी देख रही थी, मगर सुजाता ने मेरी बाँह खींचते हुए कहा—"बहुत लोग हैं देखने को, चलो अब चलें।" लोग आपस में कह रहे थे—"दौरा पड़ गया है, भूत प्रेत की पकड़ है।"

सुजाता मुझे खींच लाई। कैसी अजीब है ! किसी का दुःख देख पिघल नहीं जाती, परेशान हो उठती है। किसी के दुख से वह अपने आप को दुःख नहीं पहुँचाना चाहती और असल बात को छिपाने के आशय से प्रत्यक्ष में दयनीय चेहरा बनाकर कह उठती है, "ओफ ! मुझसे किसी का दुःख देखा नहीं जाता, इसी से भाग खड़ी होती हूँ।"

लोगों की भीड़, खोमचे वालों का शोर–गुल, बच्चों की चिल्लाहट और जवानों की हुल्लड़बाज़ी देख जी और भी उदास और निराश हो गया। सुजाता ने ढेर-सी चीजें खाने-पीने के लिये खरीदीं, पर उनके स्वादिष्ट होने पर भी खाने में मन नहीं लगा। रह-रह कर वह लड़की और उसकी उन चीखों की याद परेशान करती रही। जी चाहता रहा कि सुजाता की आज्ञा मिले और मैं उस लड़की को देख आऊँ। पर सुजाता मेरी बीमारी से पहले ही

काफ़ी परेशान हो चुकी थी। इसलिये उसमे एक मिनट के लिये भी मुझे अपने से अलग नहीं होने दिया। दिन गुजरा, शाम घिर आई, सईदा दिखाई नहीं दी, जाने कहाँ गायब हो गई थी। रात को खूब चहल पहल हुई, राग–रंग, नाच और गाना होता रहा। सब की अलग-अलग टोलियाँ थीं। कहीं अलाव जल रहे थे, तो कहीं नगाड़े बज रहे थे। सब अपनी मौज में थे, ठीक रात के एक बजे तक यह मेला भरा रहा। लेकिन ज्यों ही ढोल मजीरों की आवाजें बन्द हुई, लोग अपने-अपने तम्बुओं के नीचे सोने चले गए। मैं भी सुजाता के साथ अपने डेरे पर लौटी। सुजाता की नौकरानी ने पहले से ही चटाईयाँ बिछा कर बिस्तरों की व्यवस्था कर रखी थी। सो आते ही मैं लेट गई। बाँई ओर करवट बदली तो देखा कि सईदा भी मुझसे ज़रा दूर लेटी हुई है और कनखियों से मुझे देख रही है। मैं कुछ पूछने को हुई कि सुजाता ने कहा– "अब सब सो जाओ, सुबह पाँच बजे चल देना है।"

मैंने आँखें मूँद लीं, पर नींद नहीं आई। हजार बार कोशिश करने पर भी मैं पलकें न बन्द कर सकी। जी रह-रह कर उदास हो रहा था और मैं चाह रही थी तम्बू के बाहर जाकर चहलकदमी कर आऊँ। जाने क्यों, मैं वहाँ लेटना नहीं चाहती थी। जब रहा नहीं गया तब मैं उठ बैठी और धीरे-धीरे बाहर निकली। खूब भीगी-भीगी रात थी, काजल से भी अधिक काली और भयावनी।

वहाँ से थोड़ी ही दूरी पर दरिया बह रहा था। उस का शोर सुन मैं दहल गई। जल्दी से भीतर जाने को पाँव बढ़ाए ही थे कि किसी के रोने की आवाज़ सुनाई दी। वह आवाज़ जितनी करुण थी, उतनी ही सुरीली। राज, तुम कहोगे रोना भी कभी सुरीला

हो सकता है। पर सच मानो, मैं गलत नहीं कह रही। मुझे लग रहा था जैसे रोने की आड़ ले कोई गा रहा है। आवाज़ किसी स्त्री की ही थी।

मैं डेरे में लौट आई। कुछ देर बैठी, पर मन नहीं लगा। जाने कैसी निर्भीकता मुझ में भर आई थी कि घने अन्धकार की परवाह किए बिना ही मैं उस आवाज़ को लक्ष्य करती हुई आगे बढ़ती गई। दूर किसी के डेरे में से हल्का प्रकाश बाहर की ओर झाँक रहा था। उस प्रकाश में मैं ने देखा नदी के किनारे बैठी कोई दर्दीले स्वर में गा रही है।

बिना किसी रुकावट के मैं जल्दी से वहाँ पहुँची। मेरे आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। एक टिमटिमाता हुआ मिट्टी का दिया अपने पास रखे वही बीमार लड़की नदी की ओर मुँह किए गा रही थी। मेरे आने की आहट वह सुन नहीं सकी थी, इस से अपने ही दर्द में वह गाती रही—

रात अन्धेरी घुम्मण घेरी, दरिया ठाठा मारे॥
ओ असाँदा हाल कि जाणन, जो बैठे नदी किनारे॥

गीत के बोल जितने दर्द से भरे हुए थे आवाज़ कहीं उससे भी अधिक रुला देने वाली थी।

इस गीत की पंक्ति को उस ने कितनी ही बार दोहराया। उस के बोल में हर बार अलग तरह का उतार-चढ़ाव था। वह गीत सुन मैं अपना रोना नहीं रोक सकी।

वह लड़की मेरी ओर घूमी और मेरा बाजू पकड़ते हुए बोली—"सलामत की फ़ौत नहीं हुई, लोग झूट कहते हैं। वह अभी ज़िन्दा है, मेरे सीने में उतर कर देखो...देखो, देखो भी ...?"

वह चीख-सी उठी और फिर दरिया की ओर मुँह करते हुए बोली—"सलामत ! वे लोग दिलबर से मेरा निकाह करना चाहते हैं, पर मैं निकाह नहीं करूँगी; मैं तुम्हारा इन्तज़ार करूँगी।" कहते-कहते एका-एक उस ने जोर से मेरे कन्धे पर सिर रख दिया और वह फफक-फफक कर रो पड़ी। मैं ने ढाढ़स बँधाना चाहा, पर वह सिसकती हुई कहती गई—

स्वाय सिदक दे नाल सी नेह लगा,
कदी जिग्रँदियाँ मुख न मोड़साँ मैं
भावें बोलियाँ मार के लोक साड़न,
गैर नाल प्रीति न जोड़साँ मैं·····

उस की रुलाई फूट रही थी और इधर मैं बेचैन होती जा रही थी। क्या कहूँ, क्या करूँ, कुछ समझ नहीं पा रही थी। उस के आँसुओं से मेरा कँधा भीग चुका था और उस की हिचकियों से मेरा अन्तर जड़ित हो रहा था। वह अनजानी, बेबूझ लड़की, जिस ने मेरा चेहरा भी नहीं देखा था, मेरा सहारा लिए सिसकती जा रही थी। मुझ से रहा नहीं गया, उस के सिर को सहलाते हुए बोली—

"कौन हो, इतना दर्द-भरा गीत क्यों गा रही हो ?"

उसने उचक कर मेरी ओर देखा, दीपक की लौ में मुझे उस की आँखों में जो दिखाई दिया, उस भाव, उस करुणा का सजीव चित्र मैं शब्दों द्वारा प्रकट नहीं कर सकती, राज ! मैं चित्रकार होती तो वह करुण चित्र चित्रित करके तुम्हें दिखाती। उस ने मेरी ओर देखा। मैं एक अजनबी हूँ, यह वह समझ गई थी, इसी लिए मेरी धोती का पल्ला पकड़ कर मेरी ओर एकटक देखती रही, फिर धीरे से बुदबुदाई—"क्यों आई हो यहाँ ?"

"तुम्हारा गीत सुनने, नीद नही आ रही थी," में ने कहा।

"तुम सुनोगी मेरा गीत ?" वह खिलखिला कर हंस पड़ी और फिर एकाएक ज़ोर से रो पड़ी और रोते-रोते मेरे हाथ को पकड़ते हुए बोली—"लोग मुझे पागल समझते हैं, क्या तू भी पागल समझ कर यहाँ आई है ?"

मैं ने उस का हाथ पकड़े हुए कहा—"नहीं नहीं कौन कहता है कि तू पागल है ?" वह और ज़ोर से रो पड़ी, बोली—"सभी तो कहते है। दादी भी, नानी भी और आस-पड़ोस सभी....."

"क्या तुम्हें सर्दी नहीं लग रही ? चलो अपने डेरे पर चलो," मैंने उसे उठाते हुए कहा।

"वह उठी नहीं, बैठी ही रही और मेरा हाथ पकड़े बोली—"रोज कोई आने नही देता, पर आज मैं यहीं बैठूँगी। यह दिया ले आई हूँ। जब तक इस में तेल खत्म नहीं होता यहाँ से नहीं जाऊँगी मैं उसे देखूँगी उस की नाव को देखूँगी!"

"दिया और तेल" मैं ने धीरे से कहा, "मतलब क्या है"।

"मतलब ? मतलब ले कुछ नहीं, इसे साथ ले आई हूँ, ताकि दरिया में बहती हुई हर एक चीज़ को देख सकूँ !" कहते-कहते वह फिर वही गीत गाने लगी।

तभी पीछे से किसी के दौड़ने की आवाज़ आई और साथ ही किसी ने पुकारा—"अरी ओ करीमा, चल डेरे पर, दादी बुला रही है।"

"लो वह आ गया", वह भयभीत-सी हो कर उठ बैठी। दिए को फूँक से बुझा कर धीरे से बोली—"मुआ मेरा पिंड नहीं छोड़ता। जहाँ जाती हूँ वहीं भागा आता है।"

भय और रुदन से भरी वह आवाज़ सुन जाने जी कैसा हो रहा था मेरा। और वह बीमार लड़की, उस का चेहरा सब कुछ मेरी आँखों में उतरता जा रहा था।

आने वाला अकेला नहीं था। उस के साथ एक औरत भी पीछे पीछे आ रही थी, उन्हें आते हुए देख मैं भी अपने कैम्प की ओर चल पड़ी। सईदा मुझे बाहर ही खड़ी मिली। वह मेरी ओर ही आ रही थी। मुझे देखते ही मेरे साथ चिपक गई और कहने लगी "उसके पास क्यों गई थीं ? उसे तो भूत लगा हुआ है।"

सईदा कहती जा रही थी और मैं सुन रही थी। यह करीमा मल्लाह की लड़की है। साल हुआ इस की शादी एक दूसरे मल्लाह से होने वाली थी। जिस रोज़ बारात आने वाली थी उसी रोज़ इस दरिया में तूफ़ान उठ आया था। करीमा के दूल्हे की नाव उस तूफान में ही डूब गई थी। करीमा उसे बचपन से जानती थी और उसे खूब प्यार करती थी। उस के लिए वह दीन–दुनिया को भूले हुए थी और अब तो वह पागल हो गई है।

"उस का दूल्हा फिर मिला नहीं ?" मैं ने भयभीत होते हुए पूछा।

वह बोली—"कहाँ मिलता ? वह तो डूब कर मर गया था। करीमा का बाप नहीं रहा। एक दादी है और एक उसका चचा है, बस और कोई नहीं। करीमा को अपने खाविन्द का भूत लग गया है। तुम ने उसे छुआ तो नहीं ?" सईदा मुझ से ज़रा दूर खिसकती हुई पूछ बैठी।

मैं बोली–"मुझे भूत से डर नहीं लगता सईदा। जिन्दा आदमियों से डर लगने लगता है।"

"यह तो बहुत बुरी बात है। पीरजी को कहा क्यों नहीं।"

"यह बीमारी किसी के बस की नहीं, सईदा। खुद मेरे ही बस का रोग है, खुद ही इस का इलाज करूंगी। अच्छा रात बहुत हो गई है। अब तुम भी सो जाओ।"

इतना कहते हुए मैं अपने बिस्तर पर आ कर लेट गई। आँखें मूंदीं, सोने की कोशिश की, मगर बेकार। करीमा और उस की आँखें बार-बार नाच उठती थीं मेरी आँखों के सामने। भला मैं सो कैसे सकती थी! उस के गीत के बोल भीतर–ही–भीतर मेरे मन में हलचल मचा रहे थे और उन गीतों की वास्तविकता मुझे प्रेम के तराजू पर तोले जा रही थी, उस तराजू के दूसरे पलड़े पर राज तुम बैठे हुए थे।

बेचारी करीमा! जैसे अपने को उस तक पहुँचा कर मैं उसी का नाम ले रही थी। आँसू मेरे गालों पर बह रहे थे और तकिया भीग रहा था। सीधी लेट नहीं सकी। पेट के बल पड़ी–पड़ी मैं बहुत देर तक सिसकती रही।

राज, उस समय मै सोच रही थी, अपने से पूछ रही थी कि ईश्वर ने आदमी का दिल क्यों बनाया! बनाया ही था तो उसे माँसपेशियों के भीतर छिपा कर क्यों रख दिया? इस पर माँस के टुकड़े की अपेक्षा अगर काँच की भाँति कोई पारदर्शक चीज लगी हुई होती तो कितना अच्छा होता। भीतर क्या हो रहा है, क्या तूफ़ान उठ रहा है, इस की पहचान तो हो सकती। मैं लाख रोऊं कितना ही छटपटाऊं, उस पीड़ा को कोई देख नहीं सकता। हाँ, चेहरे पर जो उस की प्रतिक्रिया प्रकट हो जाती है उसे देख सभी लेते हैं, पर सही हाल कोई नहीं समझ पाता।

बिलखते–बिलखते इस के भीतर कितनी दरारें पड़ गई हैं ! अगर तुम दिल के पारखी होते तो समझ भी सकते । पर अब क्या कहूँ ? पीड़ा जो तुम ने देखी है उसे सहलाने कभी चले आते, ऐसा बार–बार सोचती हूँ और हर बार किस्मत का लिखा समझ अपने को बहलाने की कोशिश करती हूँ ।

कभी जिन्दगी में चैन ले सकूँगी ? कौन कह सकता है ? जिसे मैं स्वयं भी नहीं जान पाई, वह दूसरा समझेगा भी कैसे ?

रोते-रोते जाने कब आँख लग गई । पर जब सुजाता ने मुझे गुदगुदाया तब आँख मलती हुई उठ बैठी । सुजाता नौकरानी से कह रही थी—"बिस्तर बोरिया बाँधो ।" मैं हड़बड़ा कर बाहर के उजाले को देखने लगी । सवारी का इन्तज़ाम रात को ही तय कर लिया था, सो नियत समय पर ऊँट वाले आ पहुँचे थे ।

वहाँ से चलते समय बहुत मन हुआ कि रात वाली लड़की को एक नज़र देख लूँ, पर सुजाता का शासन इतना कड़ा था कि मैं उसे देखने की इच्छा भी प्रकट नहीं कर सकी ।

ऊँट खूब सजे हुए थे । उन की पीठ के दाएँ-बाएँ दो लकड़ी के मज़बूत छोटे-छोटे कटघरे रखे हुए थे । सुजाता घर से चलते समय दो मोटी मुलायम गद्दियाँ लेती आई थी । सो उसे उन में रख कर हम बैठ गई । ऊँटों की पीठ पर झूला झूलती हुई मैं रात वाली अप्रिय घटना को बहुत कुछ भूल गई । जिस मेले को निरर्थक समझ चुकी थी, उन में शामिल होने की अनुभूति उस समय बड़ी प्रिय लग रही थी । रास्ते में हम ने मेले से खरीदी हुई मिठाइयाँ खाईं और हँसते हुए वह ऊँचा-नीचा रास्ता पार किया । गाँव के एक सिरे पर ऊँट छोड़दिए गए और नौकरानी से सामान उठवा कर

हम लोग घर पहुँचे। आ कर देखा, डाक्टर साहब का सामान बँधा पड़ा है और धर्मशाला में माँ की जो कोठियाँ हैं उन के सिलसिले में वह धर्मशाला जाने वाले हैं। कदाचित वह हम लोगों के आने की इन्तज़ार में ही दरवाज़े पर खड़े हुए थे। गाड़ी नौ बजे छूटती थी। सुजाता ने कहा—"धर्मशाला मैं भी जाऊँगी।"

"बच्चों को कौन सम्हालेगा ? डाक्टर साहब ने पूछा। मैं चट से बोली—"दीदी, चली जाओ। बच्चों के पास मै जो हूँ। तुम जैसा प्यार न सही, सम्हाल उनकी तुमसे भी अच्छी तरह कर लूँगी।"

मेरी बात सुनते ही डाक्टर साहब का चेहरा खिल उठा, पर जल्दी ही खिन्न होते हुये बोले– "बच्चों की व्यवस्था हो जाती तो तुम भी साथ चल सकती थीं।"

" अरे कहाँ ! अभी सर्दी बहुत है और यह ठहरी कमज़ोर। नहीं रमा, यह तो यों ही कह देते हैं।"

सुजाता जाने की खुशी में थी, इस लिए मैं उस की बात से सहमत होती हुई बोली—"तो बताओ कौन से कपड़े रखूँ ? खाना भी अभी खाना है।"

तब मैं ने सुजाता के कपड़े ठीक किए और आधे घंटे में ही वह तैयार हो गई। पाँच-सात रोज में वे लोग लौट आएंगे। कोठियाँ बिक गईं तो सैर करने को निकलूँगी खूब लम्बी सैर, इतनी लम्बी कि ज़िन्दगी का सफर उसी के साथ-साथ पूरा होता चले। अच्छा तो शेष फिर।

रमा—

## सोलहवां पत्र

राज,

रात के बारह बजने को हैं, कमरे में मैं हूँ, सुजाता का बच्चा और उसकी छोटी मुन्नी दोनों बड़ी मीठी नींद ले रहे हैं। सुजाता अभी धर्मशाला से नहीं लौटी। आज-कल ममता, स्नेह और दुलार इन बच्चों पर उड़ेल रही हूँ। भीतर का द्वन्द्व बहुत कुछ कम हो गया है। मालूम होता है जैसे सागर में उठने वाली तरंगें किनारे को छू कर कुछ क्षणों के लिये आराम महसूस कर रही हों। आज इस परिस्थिति की खींचातानी ने समय की व्यवस्था अस्त-व्यस्त कर दी है। तभी तो कभी बारह बजे उठ बैठती हूँ और कभी तीन बजे। आज अनायास याद हो आया कि मार्च की पन्द्रहवीं तारीख है। मैं चौंक कर उठ बैठी—ऐसे ही जैसे घने बादलों में बिजली की तड़प एकाएक अन्धेरे को चीर कर बाहर फूट पड़ी हो और फिर रोशनी दिखा कर लोप हो गई हो। उठ कर बैठी रही। जाने कैसा अनुभव होने लगा। रात भोली स्मृति के साथ सजग हो गई—और धुँधले चित्र स्पष्ट हो गये। यह वही तारीख थी, जब तुम मुझे दुल्हन बना कर अपने घर ले आए थे। इस याद के साथ बहुत कुछ स्मरण हो आया। सुख की अनुभूति से मेरा रोम-रोम पुलकित हो उठा। उस रात के प्रथम मिलन की सुखद स्मृतियां मुझे अतीत में खींच ले गईं। पर ज्योंही मादकता की घड़ियाँ आँचल उठा कर जाने लगीं, मैंने अचकचा कर अपने चारों ओर देखा। सब रंगीन स्वप्न अपना-अपना रंग

समेटे उड़ गये थे और अचेतन शरीर अंगड़ाई ले कर सुस्ताने लगा था।

सुख की कल्पना, कल्पना मात्र रह गई और जब रहा नहीं गया तब मैं कलम ले कर आ बैठी।

जाना अभी यहाँ से नहीं होगा, ऐसा लगता है। सुजाता को भी सैर की खूब सूझी। बस एक बात पर लिख दिया—अभी कुछ दिन यहाँ रहूँगी, मौसम बहुत अच्छा है, बच्चों की सेहत का खयाल रखना और अपने को शान्त रखना। तुम्हें सेवों की एक पेटी अभी अभी भेज रही हूँ.....।

वैसे, इन दिनों खूब व्यस्त सी रही हूँ—कुछ सुजाता के बच्चों की देख-रेख में और कुछ सत्या के साथ विचार-विमर्श में। सत्या यहाँ मिडिल स्कूल की प्रधान अध्यापिका है। बड़ी समझदार और विचारशील लड़की है। रविवार के स्त्री समाज में उसके साथ परिचय हुआ था— पहली मुलाकात में ही वह मुझे अपने निकट की सी दिखाई दी। उसका चेहरा संतोष और शान्ति की सौम्यता से परिपूर्ण-सा लगा। यों देखने में वाह्य रूप कुछ भी नहीं। पर राज, उसका भीतर का स्वरूप बड़ा ही प्रभावशाली है।

घर में वह भी अकेली ही है। सुना है विवाह के चार रोज़ बाद ही उसकी विदाई हो गई थी। पति को उसका रूप भाया नहीं।

माँ की एकमात्र पिता-विहीन सन्तान होने के कारण वह माँ को इस दारुण दुःख की चोट से बचा नहीं सकी। अभी पिछले मास ही तो उसकी माँ का देहान्त हुआ है। परन्तु क्या कहूँ उसके साहस की बात! लड़की क्या है, दुःख, शोक से दूर, चिन्ता

दुविधाओं से अलग, साहस से भरी हुई मानवता की एक जीती जागती अविचल अडिग तस्वीर है। ईश्वर-भक्ति में उसका अटूट विश्वास है, पूजा, अर्चना से अगाध प्रेम है। आज-कल उसके चरित्र से कुछ प्राप्त करने की चेष्टा कर रही हूँ। और शायद यही कारण है कि उसकी संगति से मैं अपने दुःख को हलका समझने लगी हूँ। सत्या के कहने के अनुसार मैं सन्ध्या समय आँख मूँद कर अपने मन की शान्ति के लिये ईश्वरीय शक्ति का आश्रय लेने के उपक्रम करने लगती हूँ, पर तभी राज, अनुभव होने लगता है जैसे सीढ़ियों पर चढ़ने की हल्की-हल्की पद-चाप हो रही है। वह आहट, वह धीमी पद-चाप मेरा ध्यान तोड़ देती है और मुझे आभास होने लगता है जैसे तुम आकर मेरी आँखें मूँद कर मुझे हैरान करने वाले हो। मैं क्या कहूँ राज कि तुम अप्रत्यक्ष में भी मेरे साथ कैसा छल कर रहे हो।

यह आँख मूँदना, यह पूजा-भक्ति में ध्यान लगाना मेरे लिये कोरा विचार रह जाता है और इन विचारों से दूर मैं विवश सी, आहत सी होकर बैठी ही रह जाती हूँ। तुम्हें मालूम है कि मैं तीज-त्योहारों में, छोटी-छोटी रस्मों में कभी विश्वास नहीं करती, लेकिन इन दिनों मालूम नहीं क्यों मैं इन बातों में रुचि लेने की चेष्टा कर रही हूँ।

कल सुबह सत्या आ कर खींच ले गई। बोली—"चलो, नदी स्नान कर आएं।"

"नदी-स्नान ? क्यों क्या हुआ है आज ?"

"हुआ क्या है। पर्व है मालूम नहीं, तुम्हें ? सुबह मुँह अन्धेरे से ही गली में शोर हो रहा है। बड़ी बूढ़ियाँ ही घर नहीं बैठ सकीं

तो हम ही क्यों बैठी रहें। चलो उठो, जल्दी से तैयार हो जाओ।"

"नदी-स्नान का मुझे शौक है, पर सत्या, पर्व की बात मैं नहीं समझ सकी... किसी और दिन चलेंगे।"

उसने मुँह बिचका लिया और माथे पर तेवर डालते हुए कहा—"आदमी अभ्यास से ही भले बुरे की पहचान करता है, रमा...। एक बार अभ्यास तो करके देखो। श्रद्धा न सही, रुचि अवश्य होगी तुम्हें।"

"लेकिन रुचि को मैंने अभ्यास के अन्तर्गत नहीं माना...जिसमें मेरी आज रुचि है....उसी से कल मुझे चिढ़ सी हो सकती है। तो फिर ऐसी बात के लिए चेष्टा मैं करूँ भी क्यों ?

"यही तुम गलत सोचती हो रमा। साँसारिक नित-नेम तुम्हारी दृष्टि में तुच्छ प्रतिबन्ध हैं। तभी तो इनमें तुम्हारी आस्था नहीं। लेकिन मैं कहती हूँ, इन्हीं नित-नेमों द्वारा तुम साँसारिक वस्तुओं से दूर के उन प्रतिबन्धों की भी कल्पना कर सकोगी, जहाँ इच्छा-शक्ति, बुद्धि का आश्रय ले, तुम्हें सत्य झूठ के तोलने का अवसर देगी। चलो उठो, सूर्य निकलने से पहले हमें चल देना चाहिए।"

तब उसकी पकड़ में मैं आ गई। बिस्तर छोड़ा... मुँह-हाथ धोया, नौकरानी को आवश्यक आदेश दिया और सत्या की अंगुली पकड़े मैं पर्व के पुण्य प्रताप से लाभ उठाने चल दी।

रास्ता लम्बा था, कहीं तंग पगडंडी झाड़ियों से घिरी हुई चली गई थी, तो कहीं रेतीला मैदान फैला पड़ा था। स्त्रियाँ कन्धों पर गीली धोतियाँ लटकाए, माथे पर चन्दन का टीका लगाए, राम-नाम का जाप करती लौटी आ रही थीं। हवा में ठंडक थी और समय

बड़ा सुहावना था। मुझे प्रतीत होने लगा, सत्या ने मुझे पर्व का आमंत्रण दे मेरे मन को भी सुख पहुँचाया है।

सूखे रेत के पाट छूट गए तब गीली रेत का लम्बा, चौड़ा पाट दिखाई दिया। सत्या प्रसन्न होती हुई बोली— "बस, अब धारा आ गई।"

जहाँ-तहाँ पावों के गहरे निशान पड़े हुए थे—मानो पथ-प्रदर्शक अपना चिह्न छोड़ गए हों। हर कदम जितना सम्हाल कर रखा जाता था उतना ही नीचे धस जाता था। फिर भी इसमें एक आनन्द की अनुभूति हो रही थी—और हम दोनों एक दूसरे का आश्रय ले जोर से पाँव खींचती और खींचने के साथ दूसरे ही क्षण हलकी काँपती हुई चीख हमारे मुंह से निकल जाती और हम एक दूसरे का हाथ ज़ोर से थाम लेतीं। अन्त में हमने वह गीला रेतीला मैदान पार किया। अब जहाँ-तहाँ कीच हो रही थी और जो समतल गीली जगह थी उस पर नदी की लहरों की सलवटें पड़ी हुई थीं। देखने में बड़ा सुन्दर लग रहा था और मै एकटक उस ओर देखे जा रही थी।

सहसा सत्या बोली—"अब देर मत करो... सूरज उठता आ रहा है।"

"अच्छा तो चलो नहा लें।" यह कह मैंने अपनी धोती सम्हाली और जल्दी से नदीं की धार में जा पहुँची। नदी का जल जितना स्वच्छ था उतना ही शीतल, पर मैं डुबकी पर डुबकी लगाए जा रही थी।

काँपती हुई आवाज़ में मैं राम नाम का उच्चारण करने की चेष्टा करती, किन्तु भगवान् का नाम लेने की अपेक्षा मैं तुम्हारे

नाम का उच्चारण कर जाती—जैसे घुटी हुई, तड़पती हुई साँस बन्द होठों से बरबस बाहर निकलने की चेष्टा कर के स्वयं सहम जाती थी।

नहा कर बाहर आई। सत्या मेरे काँपते हुए नीले होंठ देख कर हैरान-सी होती हुई बोली—"अरे...यह क्या तुम्हारे तो होंठ नीले पड़ गए है !" मैंने उसकी ओर देखा और देखने के साथ ही मेरी आँखें छलछला आईं। उसने मुझे सम्हाला। मेरी कहानी वह सुन चुकी थी, मेरी ही ज़बानी। मुझे बाँहों में भरती हुई उसने मेरे गीले बाल पोंछे। फिर वह मुझे धूप में ले गई। उसका सहारा पाकर जितना मुझे आराम मिल रहा था, उतनी ही मैं संज्ञाहीन होती जा रही थी।

राज, ममता की खींच जितनी ही मजबूत होती है उतनी ही वह खींचे जाने वाले को कमज़ोर बना देती है। सत्या आयु में मुझसे छोटी है, पर उसका आश्रय ले मैं ही छोटी बच्ची की तरह रो रही थी। सूखे कपड़े पहनने में उसने सहायता दी और फिर वह खोमचे वाले से गर्म-गर्म भुने चने ले आई। मैं जब खाने बैठी तब वह स्नेहपूर्वक मुझे देखती रही।

बैठे-बैठे हमें दस बज गए। स्कूल की उसकी छुट्टी थी और मुझे भी घर जाने की जल्दी नहीं थी। सभी स्त्रियाँ नहा धो कर चली गई थीं। इक्के-दुक्के खोमचे वाले भी उठ गए थे। नदी की धार जो गन्दली हो गई थी अब स्वच्छ हो कर दूने वेग से बहने लगी थी। उस पर धूप की सुनहरी आभा झिलमिला रही थी। हम दोनों उस धूप का आनन्द ले रही थीं कि तभी दूर किसी की बाँसुरी की आवाज़ सुनाई दी। मैंने इधर-उधर देखा। नदी के पार

एक लड़का बाँसुरी बजा रहा था। स्वर दर्दीला और मीठा था।

सत्या ने मेरा हाथ पकड़ा और कहा—"यह लड़का हर रोज़ यहाँ आता है और बाँसुरी पर यही गीत गाता है।"

"लेकिन इस गीत के बोल मेरी समझ में नहीं आ रहे," मैंने गाने की कड़ियों को सुनने की चेष्टा में कहा।

वह धीमे से मुस्कराई। फिर मेरा हाथ छोड़ते हुए बोली—"क्या करोगी जान कर.....।"

मैंने मचलते हुए कहा—"तुम्हें बताना पड़ेगा सत्या, नहीं तो मैं तुमसे रूठ जाऊंगी।"

"अच्छा, लो सुनो। यह यहाँ का एक बहुत ही पुराना गीत है। गीत क्या है, एक हकीकत है। इस हकीकत में न जाने कितनी-कितनी कहानियाँ चरितार्थ हैं। फिर भी हर ऐसी कहानी का गीत एक ही है। मुझे तो केवल इसकी येही दो पंक्तियाँ आती हैं जो यह गा रहा है।"

"तो ये ही तो मैं भी सुनना चाह रही हूँ।"

इस पर सत्या ने बताया कि वह गा रहा है—

बेड़ा ओ...चनाबे वालियाँ...
लाई संदेशा सोहणे लाल...दा...

गीत तो सुन्दर है!" मैंने कहा।

सत्या बोली— और गाने वाला उससे भी अधिक भावुक है। इसकी भावुकता में सत्य की एक तीखी झलक है। वह देखो एक बेड़ा दूर से चला आ रहा है। यह लड़का अब खड़ा हो गया है।"

"हाँ, और उसकी बाँसुरी की तान ऊंची और तीव्र होगई है", मैंने खड़े होते हुए कहा। लड़का अब हमारे बिलकुल सामने था—

नदी के पार उसका चेहरा साफ़ दिखाई दे रहा था। "अरे ?" मैंने तेज़ी से कहा, "यह लड़का तो वही है जिसे हीर की कबर पर देखा था। सुजाता ने बताया था, नदी के पार इसकी प्रेमिका रहती है और इसी से वह नदी पर चक्कर काटता हुआ बाँसुरी बजाता है।"

"हाँ, यह यहाँ के सभी लोग जानते हैं।"

"ओह—बेचारा..." मेरा स्वर आर्द्र हो गया था। सत्या बोली—"आज से चार बरस पहले हमारे यहाँ दूध बेचने आता था... मैं इसे अच्छी तरह जानती हूँ।"

बेड़ा जैसे-जैसे पास आता जा रहा था, वह लड़का उतनी ही उत्सुकता से बाँसुरी का स्वर तेज़ किए जा रहा था। एक करुण कम्पन कानों की राह आ कर भीतर हलचल मचाने लगा। मैंने सत्या का हाथ ज़ोर से पकड़ा और उसे खींचते हुए कहा—

"चलो अब जल्दी से, मुझसे यह गीत नहीं सुना जाएगा, सत्या—"

हम दोनों लौट पड़ीं। रेतीला मैदान पार कर हम धूल भरी टेढ़ी-मेढ़ी पगडन्डी पर आ पहुँची। मेरी आँखों के आगे वह टेढ़ी पगडंडी बल खाती हुई सर्पिणी की भाँति दिखाई दे रही थी और हर कदम पर मुझे मालूम हो रहा था जैसे हम सर्पिणी की पीठ पर फिसलती हुई चली आ रही है। मैं सत्या से रह-रह कर चिपक जाती, इस आशंका से कि कहीं सर्पिणी पीठ रौंदने की पीड़ा से क्रुद्ध होकर मुझे काट न खाए।

नदी स्नान करके जब मैं घर लौटी तब मैंने देखा कि गेट पर डाक्टर बाबू का सामान रखा है और वह ताँगे वाले को पैसे दे

रहे हैं। चौकीदार ने सामान भीतर रखा और डाक्टर बाबू मेरी ओर देखते हुए बोले—

"हलो रमा, क्या हाल-चाल है ?"

"ठीक है"...मैंने हँसते हुए कहा और पूछा—"दीदी नहीं आई?"

"नहीं, वह कुछ दिन और रहेंगी ?"

सुन कर मैं सोच में पड़ गई। मुझे चुप देख वह बोले—"कोठियों का ठीक फैसला नहीं हुआ, उम्मीद है अगले हफ्ते तक बात चीत पक्की हो जाएगी। सुजाता इसी लिए रह गई है।"

"अकेले में मन कैसे लगेगा ?"

"अरे अकेली कहाँ है, इन दिनों उसकी प्यारी सखी मंजुला आई हुई है।"

"मंजुला ?"

"हाँ, वह उसके साथ पढ़ती थी शायद। उसके सास–ससुर भी वहीं हैं। उन्हीं लोगों के साथ कोठियाँ बेचने की बात हो रही है।"

"अच्छा, मैं समझ गई। मंजुला भोलानाथ खन्ना की लड़की...

"हाँ वही...वही। बड़ी सुन्दर लड़की है।"

"हाँ' बहुत दिन हो गए हैं उसे देखे हुए," इतना कहती हुई मैं भीतर चली गई और सामान ठिकाने लगवाने लगी। सत्या जा चुकी थी, मगर उसकी गीली धोती मेरे हाथ में थी। उसे देखते हुए डाक्टर बाबू बोले—"तुम लोग गई कहाँ थीं ? यह गीली धोती कैसी ?"

"नदी पर गई थी, सत्या के साथ," और यह कहते हुए मैंने मुँह फेर लिया। किशोर बड़ा सा सेव टोकरी में से निकाल रहा था। मुझे देख कर बोला—"मौसी खाओगी ?"

"अभी नहीं।"

डाक्टर सुन रहे थे। पास आते हुए बोले—"कुछ सेव अलग रखे हैं, रमा! उन्हें तुम अपने कमरे में लेती जाओ, यहाँ बच्चे चट कर जाएँगे।"

सुन कर मुझे अच्छा नहीं लगा। बच्चों से बढ़ कर कोई दूसरे के लिए स्नेह बिखेरे, यह कहाँ तक उपयुक्त है? इस उपयुक्तता की रूपरेखा मैंने खींच डाली और उस आभार को सहने की मुझमें ताकत नहीं थी। इसी से आहत होकर बोली—"कुल्लू का सेव खट्टा होता है जीजा जी और मुझे वैसे भी सेव खाने का इतना चाव नहीं कि बच्चों के मुँह से छीन कर स्वयं पेट में डाल लूँ।"

डाक्टर झेंप गए। चोट करारी थी, फिर भी घाव उन्हें नहीं हुआ। तभी तो ही-ही करते हुए बोले—"तुम्हारी मर्जी है, न खाओ पर सेव, बहुत बढ़िया है।"

"होंगे," मैं ने रूठते हुए, झुँझलाते हुए कहा और सीढ़ियाँ चढ़ मैं अपने कमरे में पहुँची। मन अस्वस्थ-सा हो रहा था। थकान से पाँव दुःख रहे थे। इसी से चादर डाल लेट रही। लेटते ही नींद आ गई और जब सो कर उठी तब देखा कि मैं कम्बल ओढ़े पड़ी हूँ और कमरे में अँगीठी जल रही है। मैं अजनबी की तरह कभी कम्बल को और कभी अँगीठी को देखती रही। जब कुछ चेतना-सी हुई तब देखा...बाहर ज़ोर से बारिश हो रही है और सर्दी अत्यधिक बढ़ गई है। तभी दृष्टि उस ओर गई जहाँ कोने में रखी कुर्सी पर डाक्टर बाबू बैठे सिगरेट के धुएँ के लच्छे उड़ा रहे थे।

मुझे बैठी देख बोले—"सिरहाने के पीछे थर्मस रखी है और

उस में कॉफी है, पी लो।"

"ओह' कॉफी !" मैं खुशी से चिल्ला उठी। कॉफी को छोड़े मुझे एक अरसा हो गया था। सो मालूम नहीं कैसे मैं खुशी से फुदकती हुई बोली—"कॉफी कहाँ से ली ? यहाँ इस शहर में तो कॉफी का कोई नाम भी नहीं जानता।"

"मैं धर्मशाला से ले आया हूँ। यहीं इस अँगीठी पर ही तैयार की है। पीकर तो देखो और लो ये बिस्कुट भी खा लो। सुबह से कुछ नहीं खाया तुमने । अब दो बजने को हैं।"

मैंने बिस्कुट ले लिए। कॉफी को प्याले में उड़ेलती हुई मैं उसकी भाप की लहरों को देखने लगी, जो प्याले के बीच में से तिरछी होकर किनारों को छू रही थीं और उनकी मीठी-भीनी गंध धीरे-धीरे मेरे चेहरे के इर्द-गिर्द छाती जा रही थी। मुझे आराम और सुख-सा अनुभव होने लगा और मैंने कृतज्ञता भरी दृष्टि से डाक्टर बाबू की ओर देखा। वह चुपचाप सिगरेट पीते जा रहे थे। मेरी ओर देखते हुए भी मुँह से कुछ नहीं बोले। उनका निर्लिप्त भाव देख मुझे खामोश बैठना अच्छा नहीं लगा। काफी का घूंट गले से नीचे उतारते हुए मैंने कहा—"आप भी लीजिये न।"

"हूँ, ले लूंगा।" छोटा-सा साधारण-सा उत्तर था, पर तब भी मैंने हार का-सा अनुभव किया। दूसरे प्याले में उनके लिए मैंने काफी डाली और उठ कर उन के सामने मेज़ पर रख दी। वह चुपचाप पीते रहे और फिर बोले—"सर्दी बढ़ गई थी, इसी लिए कम्बल ओढ़ा दिया। उम्मीद है तुम्हें बुरा न लगा होगा।"

"बुरा लगने की क्या बात थी, जीजा जी ! आप मुझ से अपरिचितों की-सी बात क्यों करते हैं ?"

"क्योंकि तुम्हें कभी-कभी अकारण ही भ्रम हो आता है।"

"भ्रम ? मुझे ? नहीं तो ! आप भूल जाएँ, मगर मैं नहीं भूल सकती, माँ ने मरते समय आप से कहा था—'रमा तुम्हारी छोटी बहन है, मोहन ! वक्त-बेवक्त इस की खोज-खबर लेते रहना।' और आज उसी भाई का नाता गहरा जोड़ने को आप लोगों के पास आ बैठी हूँ।"

कहते-कहते मैं खिलखिला कर हँस पड़ी। डाक्टर ज़रा अचम्भे में आए, मगर जल्दी ही सन्तोष की झलक उनके चेहरे पर प्रकट हो गई। उसे देख मुझे सन्तोष ही नहीं गर्व-सा अनुभव हुआ। तभी बूढ़ी नौकरानी ने आवाज़ दी—"रमा बहन आ कर खाना खा लो।"

मैंने जल्दी से कॉफी खत्म की और डाक्टर बाबू के साथ नीचे खाने चली आई।

—रमा वही

## सत्रहवां पत्र

राज,

तीन सप्ताह हो गए हैं यहाँ आए हुए। धर्मशाला वाली कोठियाँ बिक गई हैं। बीस हज़ार में बड़ी कोठी बिकी है। ये रुपए मुझे मिले हैं। सोलह हज़ार की छोटी कोठी बिकी है जिस का रुपया सुजाता को मिला है। वहाँ रहते-रहते जी ऊब गया था, सो अब बड़े शहर की सैर को आ गई हूँ। यह बम्बई है, दुनिया भर की भली-बुरी तस्वीरों का एक संग्रहालय। यहाँ ताजे खुशबूदार फूल भी सूंघने को मिलते हैं और बासी सुगन्ध-विहीन कागज़ के रंग-बिरंगे फूल भी सजाने के लिए खरीदे जा सकते हैं। मेरी मेज़ पर भी रंग-बिरंगे कागज़ के फूलों का गुलदस्ता रखा है। इसे सुजाता कल खरीद लाई थी। उसे यह बहुत पसन्द है, सुजाता ने हमेशा रंग-बिरंगी चमकदार चीज़ों को पसन्द किया है, वास्तविकता के मूल्य को समझने के झमेले में वह कभी नहीं पड़ी। इसलिए उसे ताजे फूलों की छोटी आयु से प्यार नहीं, दीर्घायु वाले कागज के फूलों से उसे लगाव है, क्योंकि इस से उसे रोज़ नये फूल खरीदने की कठिनाई नहीं होती और न ही आए दिन पैसे बरबाद करने पड़ते हैं। सुगन्ध के विषय में भी उसकी अपनी निराली सूझ है। कागज़ के फूलों पर विलायती सुगंध के दो चार बूंदें छिड़क कर वह कह देती है—"इस से भी तो कमरा महक जाता है।"

खैर छोड़ो उस की बात, यह तो व्यक्तिगत पसन्द का सवाल है। डाक्टर साहब का खत आया है। लिखते हैं—

स्नेहमयी छोटी बहन रमा

उम्मीद है तुम खूब खुश होंगी। जब से गई हो पत्र एक भी नहीं लिखा। क्या मुझ से नाराज़ हो ?

राज, जीजाजी को अब भी सन्देह है कि मैं उन से नाराज़ हूँ। सच बड़े ही भीरु स्वभाव के हैं। मैं कितनी बार उन से कह चुकी हूँ कि मैं आप से नाराज़ नहीं हूँ, फिर भी उन्हें विश्वास नहीं होता।

उस दिन अनायास माँ की बात को लाकर मैंने उनके सामने अपने को छोटी बहन प्रमाणित करने की बात कह दी थी, उसका परिणाम यही हुआ कि डाक्टर साहब कर्त्तव्य की कसौटी पर अपने को परखने में दत्तचित्त हो गए।

कोठियाँ बिकीं, पैसा मिला। अगर वह चाहते तो छोटी कोठी का हिस्सा मुझे दे सकते थे। और नहीं तो आधा-आधा कर सकते थे, पर नहीं मेरे अधिकार को मेरी ओर बढ़ाते हुए उन्होंने सहज स्वाभाविकता से कहा—"माँ ने छोटी कोठी ही सुजाता के लिए कही थी, बड़ी कोठी पर रमा का अधिकार बतलाया था।"

मैं अवाक-सी उन्हें देखने लगी। सुजाता बहन है, स्नेह की उस में कमी नहीं। प्रमाण की तह तक न पहुँचते हुए उसने भी हामी भर दी—"हाँ यह ठीक है, बड़ी कोठी का रुपया तुम्हें मिलना चाहिए।"

पर इस बात की सचाई को हम तीनों जानते थे। माँ ने कोठियों के विषय में कोई फैसला नहीं कर रखा था। जितना खर्च उसने सुजाता पर किया था उससे अधिक वह मुझ पर कर चुकी थी। सो अधिक और कम की बात थी ही नहीं।

मैंने लेने से इन्कार कर दिया, लेकिन जीजा जी माने नहीं। अपनी सौगन्ध देते हुए बोले—"अगर आज तुम्हारा भाई तुम से यह कहता तो बात कभी टाली न जाती।" कहते-कहते उनके चेहरे पर अवसाद छा गया। देखकर मुझे अपने पर ग्लानि हो आई। सो उस दिन हम लोगों ने बम्बई जाने की सलाह बनाई, स्कूल में सत्या की कुछ अच्छी दशा नहीं थी, उससे कहा गया था कि ट्रेनिंग लिए बिना तुम्हारी नौकरी स्थायी नहीं की जा सकेगी। इसी से उसे भी साथ ले आई हूँ। बहुत मुश्किल से राजी किया है। हाँ तो यह खर्चा सब मैं ही कर रही हूँ, उन चार हज़ार रुपयों में से जो अलग रख छोड़े थे।

घर से चलते समय जीजा जी ने मुझ से अलग में कहा था—"रमा बहन, मुझ से जो कभी अनुचित बात कही गई हो उसे ध्यान में न लाना। बड़ा भाई समझ कर माफ कर देना।" मैं उनकी इस बात पर रोने को हो आई। बोली—"आपके स्नेह-दान को मैं कभी भूल नहीं सकूंगी।" आगे मेरा गला रुँध गया। अपने गले को साफ़ करने के आशय से मैंने उस ओर से मूँह फेर लिया।

और जब हमें वह स्टेशन पर छोड़ने आए तब उनका चेहरा उदास था। गाड़ी में जब हम बैठ चुके तब सुजाता को आवश्यक बातें समझाने के बाद वह मुझ से बोले–"कोशिश करना रमा; सुजाता के साथ लौट आना।" मन रखने को मैंने कह दिया—"करूँगी।"

जब गाड़ी चलने लगी तब प्लेटफार्म पर खड़े उन्हें देख कर मेरा चित्त न जाने कैसा उदास-सा हो रहा था। आँखों में धुंध-सी छा गई थी।" उनकी स्नेहपूर्ण दृष्टि मेरा धीरज गँवा रही

थी। जब सब आँखों से ओझल हो गया, तब मैंने अपने भीतर झाँक कर देखा, वहाँ सन्देह का कूड़ा कर्कट सब किनारे लग चुका था और स्नेह की अविरल, निर्मल धारा अबाध गति से बहती चली जा रही थी।

प्रिय राज !

यहाँ आकर बहुत-सा सामान खरीदा है। बहुत-सी साड़ियाँ भी। तुम्हारे ड्राइंग-रूम के लिए एक बहुत बढ़िया मेज़ खरीदने को जी हो आया था। परन्तु कुछ सोच कर खरीद नहीं सकी। सुजाता ने भी डाक्टर साहब के लिए बहुत-सी चीज़ें खरीदी हैं।

भागा-दौड़ी खूब है यहाँ। लोग अपने को खो-खो कर सभ्यता सीखने के प्रयत्न में हैं। हज़ारों का आना-जाना बना रहता है। देखती हूं तो बरबस हँस पड़ती हूँ। सोच नहीं पाती कि आखिर इस आपा-धापी का होगा भी क्या। न जाने दुनिया किस बहाव में बही जा रही, हाँ गुजरना ज़िन्दगी का हो रहा है।

तरह-तरह के राग-रंग में लोग रत हैं। कोई गाने में, कोई बजाने में और कोई नाचने में अपने को भुलाए हुए हैं। ज़िन्दगी के साथ कितना बड़ा छल हो रहा है। मालूम होता है जैसे दुनिया की शान्ति लुप्त हो चुकी है। कशमकश और खींचातानी के इस व्यवहार से सब अपने को भूलने के प्रयत्न में हैं। मन का भेद कभी छिपाया नहीं तुम से, इसी से अपना अतिरिक्त का व्यक्तित्व भी तुम्हारे सामने खोले जाती हूँ। जानती हूँ, तुम्हें मेरे प्रति घृणा हो जाएगी, लेकिन आज सब कुछ खोल देने से मैं झिझकूँगी नहीं। विश्वास के आश्रय को लेकर ही तो तुम्हारे सामने खुल रही हूँ। इसी से सोचती हूँ, मेरी भूलों को भूलें समझ कर भी उन्हें मन में

बैठा नहीं लोगे, बल्कि क्षमा कर दोगे।

यहाँ हमारे साथ वाले कमरे में एक सज्जन रहते हैं। अधेड़ उम्र के हैं, पर हैं वह साहित्यिक! आचार-व्यवहार से उनका एक विशेष प्रकार का व्यक्तित्व झलकता है। उनका परिचय भी अजीब ढंग से हो गया है। उस दिन शाम अधिक सुहावनी थी। मन बहुत था कि तुम्हें कुछ लिखूं, परन्तु ज्योंही लिखने को हुई त्योंही दरवाज़े पर दस्तक हुई। उठ कर देखा सो इन सज्जन को खड़े पाया। शिष्टता का आदान-प्रदान खत्म हुआ तो कहने लगे—"चाभियों का गुच्छा खो गया है। अगर आप अपनी चाभियाँ दे सकें तो जरा कमरे का ताला खोलने की चेष्टा करूँ।" चाभियाँ मैंने उठा कर दे दीं और सभ्यतावश कह भी दिया कि अगर किसी काम में मैं सहायता कर सकूं तो मेरा सौभाग्य होगा।

वह ज़रा-सा मुसकरा दिए और जाते-जाते कहते गए कि अगर आवश्यकता पड़े तो बेखटके निवेदन करूंगा।

राज, यह पहली मुलाकात थी। उसके पश्चात आने-जाने का क्रम दिनों दिन बढ़ता गया। वह एक उपन्यास लिखने के लिए यहाँ आए हुए हैं। चूंकि गाँव में उन्हें नवीन सभ्यता की जानकारी के लिए कोई ठोस मैटर नहीं मिल सका, इसलिए महीने भर से वह यहाँ रह रहे हैं। उस दिन सुजाता पिक्चर देखने गई थी। मैं और सत्या कमरे में थीं। तभी वह हमारे कमरे में आए और बोले—"आप से कुछ विचार-विमर्श करना है.....उपन्यास के लिए।"

उस उपन्यास के कुछ अध्याय मैंने भी पढ़े हैं। पढ़ने में दिलचस्प लगा है। भाषा और विचार भी सुन्दर हैं। परन्तु पात्रों का चरित्र-चित्रण कुछ उथला-उथला सा लग रहा है। कल्पना का

सहारा ले उनके विचारों ने जो उड़ान भरी है वह बड़ी प्रशंसनीय है, परन्तु उस उड़ान में वास्तविकता की झलक कम है। इसी से उपन्यास का कथानक भी ठीक ऊँचा नहीं। मेरे पूछने पर उन्होंने बताया है कि वास्तव में उन्हें अपनी कला के प्रति विश्वास तो ज़रूर है, पर हाँ जैसा चरित्र वह चित्रित करना चाहते हैं उसके लिए उस जैसे पात्र के सम्पर्क में आने की कमी जरूर खटकती है। उन्होंने यह भी बताया कि स्त्रियों से बातचीत करने में उन्हें कुछ झिझक सी महसूस होती है।

बात सुन मैं ज़ोर से हंस पड़ी। साथ में बैठी सत्या भी मेरी हँसी से एक दम हड़-बड़ा उठी और भागी भागी मेरे पास आई। जब हँसी का वेग कुछ कम हुआ तब मैं बोली—"तब आप बन चुके लेखक ! लेखक बनने के लिए केवल साधना की ही आवश्यकता नहीं होती, अनुभव की भी आवश्यकता होती है। और फिर उनकी ओर देखती हुई बोली—"किसी स्त्री के सम्पर्क में आइए जिसका चरित्र स्वयं उसके लिए ही उलझा हुआ हो।"

वह बोले–"तो फिर उस उलझे हुए से मेरे पल्ले क्या पड़ेगा ?" वह मेरी राय प्राप्त करने के लिये मुझ पर नज़र गड़ाए रहे। मैंने कहा—"यह भी आपने खूब कही, जो स्वयं तक उलझा हुआ है उसी को अगर आपने अपनी लेखनी द्वारा न पकड़ा तो आपकी लेखनी की सार्थकता ही क्या ?"

"हाँ, यह तो ठीक है," सत्या ने जवाब दिया और साथ में यह भी कहा कि बुरे को बुरा कहना कठिन नहीं होता; हाँ, बुरे को अच्छा कहना ज़रा टेढ़ी खीर है और आप को भी टेढ़े को सीधा कर के दिखाना है। फिर भी मेरी ओर देख कर मुसकराती हुई

बोली—"क्यों रमा, यही कहना चाहती हो न ?"

कटाक्ष सत्या का मेरी ओर था। जिस व्यंग्य से उसने उस सज्जन से बात की थी, उसका सही मतलब मैं फौरन समझ गई, क्योंकि सत्या ने मुझे हमेशा 'टेढ़ी लकीर' ही कहा है। लेकिन उसके व्यंग से मैं विचलित नहीं हुई, अपितु दूने उत्साह से बोली—"महाशय,... अनुभव प्राप्त किये बिना विचारों में सत्य की झलक नहीं आ सकती और कलम से सजीवता का प्रदर्शन नहीं हो सकता।"

"मैं कोशिश करूँगा," डूबते हुए स्वर में उन्होंने कहा और लाचारी के भाव से मेरी ओर देखा। मैंने उन्हें सान्त्वना देते हुए कहा "सम्पर्क में किसी के आने का मसला मैं हल कर दूँगी। मैं हूँ, सत्या है और सामने वाले दस नम्बर के कमरे में एक फैशनेबिल महिला ठहरी हुई हैं। उनसे परिचय प्राप्त कीजिये न। कोशिश कर के देखिये, सफल न हुए तो मैं आपकी सहायता करूँगी। पुरुष तो स्त्रियों से परिचय बढ़ाने में बड़े चतुर होते हैं, लेकिन मालूम नहीं आप क्यों इतनी झिझक महसूस करते हैं।" मैंने मुस्कराते हुए उन्हें देखा। मेरा सुझाव उन्हें अच्छा लगा। राज, कुछ दिन तो यों बीत गए। वह सज्जन अक्सर घन्टों हमारे यहाँ आकर बैठते, कुछ इधर-उधर की हाँकते, कभी क्लब और कभी पिक्चर ले जाने का निमन्त्रण देते। उस फैशनेबिल स्त्री से भी उन्होंने परिचय बढ़ाया। पर वह उस युवती के आचरण से कुछ सीख नहीं सके, वह महिला आवश्यकता से अधिक चतुर थी। मैंने बात आठ नम्बर वाली महिला की चलाई। सत्या ने चिकोटी काटी, लेकिन जाने क्यों उन सज्जन के साथ इस तरह का व्यवहार

करना मुझे अच्छा लग रहा था। मैं अपने बचपने पर उतर आई थी।

आठ नम्बर वाली महिला की बात सुनते ही वह हाथ हिला कर बोले—"अधेड़ आयु की महिला क्या प्रेरणा देगी मुझे, वह तो शिक्षा देना चाहेगी और शिक्षा भावनाओं का गला घोट देती है। रमा, मुझे ऐसा सुलझा हुआ चरित्र नहीं चाहिए।"

बात सुन मैं खूब हँसी। पर सत्या क्षुब्ध हो उठी, बोली—"उस महिला की सज्जनता से आप घबरा क्यों उठे हैं? उसकी शालीनता से आपको संकोच न हो आए, इसीलिए?"

"और नहीं तो क्या?" मैंने हँसते-हँसते कहा और सत्या की कोहनी पकड़ते हुए मैं बोली—"स्त्री की शालीनता के आगे पुरुष को अपने आप जो शिष्टाचार में बँधना पड़ता है और सत्या, जहाँ शिष्टाचार निभाने की बात आ जाती है वहाँ पुरुष मन की बात कहेगा भी क्या? और मनचाही बात सुन भी कैसे सकेगा? क्यों सिनहा साहब, आप घबरा क्यों उठे हैं? बात मैं ने ग़लत तो नहीं की?" कहते-कहते मैंने गौर से उनके चेहरे की ओर देखा। मुझे महसूस हुआ कि वह कुछ सकपका-से गए हैं। उनकी झेंप देख मुझे मन ही मन हँसी-सी आ गई और मुझे गर्व हुआ कि मैंने उन्हें चक्कर में डाल दिया है।

राज, यों मैंने कभी किसी को अपनी बातों में उलझाया नहीं और न कभी किसी के साथ इस प्रकार का ठट्ठा करने का प्रयत्न ही किया। पर न जाने क्यों सिनहा साहब को चक्कर में डालने में कुछ मज़ा-सा आ रहा था। मैंने देखा सिनहा साहब के चेहरे पर कोई भावान्तर नहीं हुआ, वह गुम-सुम से शून्य में ताकते हुए बैठे

रहे। तब एकाएक मेरी ओर देखते हुए बोले—"उनसे तुम्हारा मेल जोल है क्या ?"

"हाँ क्यों नहीं; अगर आप चाहें तो मैं उनके ही मुँह से ऐसे-ऐसे अनुभव सुनवा सकती हूँ कि एक अच्छा-खासा मसाला आपके हाथ लग जाए।" वह उदास और निराश भाव से बोले—"अपने अनुभव वह तुम लोगों को बता सकती हैं, मुझे नहीं।"

मैंने सिनहा की ओर और सिनहा ने मेरी ओर देखा। दृष्टि-पात में ही हम दोनों ने अपनी-अपनी आयु की तुलना कर डाली। सिनहा साहब की आयु सम्भवतः उस अधेड़ आयु वाली महिला से भी कहीं अधिक थी, इसी से मैंने मन ही मन सिनहा साहब की बात को स्वीकार कर लिया। जाने क्यों उस महिला पर और इन सिनहा साहब पर कुछ सहानुभूति-सी हो आई। मैं जानती थी कि सुजाता से वह बुरी तरह सब्पका जाते हैं, सुजाता की सुलझी हुई और सतर्क दृष्टि से उन्हें झेंप-सी अनुभव होने लगती है। तभी तो सुजाता कहती है—"तुम्हारे सिनहा साहब क्या लिख लेते होंगे ! जिन्हें किसी की दृष्टि से दृष्टि मिलाने का ही साहस नहीं, वह लिखेगा खाक !" पर सुजाता नहीं जानती कि उनकी दृष्टि हर एक के लिये एक-जैसी नहीं होती।

यहाँ एक बात और भी बता दूँ। सत्या की ओर से उनकी भावनाएँ संकुचित हैं, कहते हैं—"सब कुछ अपने तक समेटे हुए है, कुछ पूछने पर यों आसानी से टाल जाती है कि पूछने वाला स्वयं अपने तईं लज्जित हो उठता है।"

बात उनकी ठीक है। यों सत्या से कभी-कभी मैं भी क्षुब्ध हो उठती हूँ। अजीब लड़की है। हम लोगों में रहती हुई भी जैसे

हम सब से दूर की चीज़ है, जिसे केवल देखा जा सकता है, पकड़ा नहीं जा सकता। कभी-कभी तो कहती है राज,—"मज़ाक-मज़ाक में ही कहीं अपनी समझदारी का गला न घोंट देना। देखो आग से खेलना अच्छा नहीं। जल जाने की शंका न भी हो तो भी झुलस जाने का भय तो बना ही रहता है ?"

और राज, मैं अच्छी तरह जानती हूँ कि सत्या मेरी आदतें पसन्द नहीं करती। वह मुझ से स्नेह करती है, मेरा स्नेह स्वीकार भी करती है, पर आदतें मेरी उसे अच्छी नहीं लगतीं। उसे सीधी-सादी उतार-चढ़ाव रहित ज़िन्दगी पसन्द है। मनुष्य की उत्सुकता, चंचलता, उल्लास और उत्सुक अभिलाषाएँ उसके विचार में मनुष्य की उच्छृंखलता की एक प्रतिक्रिया मात्र हैं। पर मैं कहती हूँ, इन स्वाभाविक और आश्चर्यजनक प्रवृत्तियों का गला घोट कर जो आदमी सीधी-सादी ज़िन्दगी बसर करना पसन्द करता है—वह मनुष्यता की बहुत बड़ी, अमूल्य प्रवृति का गला घोट देता है। राज, पता नहीं क्यों मुझे उन सब चीज़ों में रुचि क्यों होने लगती है जो भावी आशंकाओं पर आधारित होती हैं और जिन्हें करने में परिणाम के अन्त की परवाह नहीं रहती। सब समझ कर भी उसे करने को तैयार हो जाती हूँ, इस विश्वास और उल्लास के कारण कि वह काम आवश्यक है।

और सच पूछो तो सिनहा साहब का उपन्यास पूरा हो या न हो, मेरी बला से ! मेरे वह होते कौन हैं, जिनके लिये इधर-उधर परिचय बढ़ाऊँ ? फिर भी इन बातों से मैं बाज़ नहीं आती। शायद मेरे अन्तर का वह द्वन्द्व जो पीड़ा से कराह उठता है अपनी पीड़ा को सहलाने के आशय से ही ऐसी बातों में प्रवृत्त हो उठता है,

वरना तुम से बिछुड़ने से पहले मैं कभी ऐसे कामों में रुचि नहीं लेती थी।

फिर विश्वास की बात कौन जाने ? उपन्यास लिखने आये हैं कि दिल बहलाव करने—

क्योंकि परसों एक अजीब बात सुनी; सिन्हा साहब के कमरे में रात भर तीन चार आदमियों में बहस चलती रही थी, सुबह जब वह हमारे यहाँ आये तो हम लोग नाश्ता करने ही बैठी थीं कि उन्होंने आते ही पूछा—

"नाश्ता मुझे भी मिल सकेगा ?"

सुजाता ने भृकुटि चढ़ाते हुए पूछा—

"क्यों, क्या होटल वालों से हिसाब खत्म हो गया है ?"

वह हंसकर बोले— "नहीं... पर तीन-तीन आदमियों को खिलाने पर अलग से पैसे देने पड़ते, इसी विचार से बेयरे से कह दिया— "तबीयत ठीक नहीं ?"

"बड़े कंजूस हैं"— सुजाता ने कनखियों से देखते हुए कहा और मुझसे बोली–"रमा इनसे बच कर रहना...कहीं ऐसा न हो कि मेरे जाने के पश्चात्... सिन्हा साहेब का खाना–पीना तुम्हारे हिसाब में चलता रहे ?"

सिन्हा साहब हो–हो करके हँस पड़े... सत्या क्षुब्ध हो उठी... चाय का प्याला ले वह दूर खिड़की के पास जा खड़ी हुई और बाहर की ओर देखने लगी।

खैर सुजाता ने बेयरे से सिन्हा साहब के लिए नाश्ता मंगवाया और उस बीच सिन्हा साहब बोले—

"रात वह लोग बहुत देर तक मुझे तंग करते रहे—"

"कौन ?" मैंने बेमतलब बात चलाने के ढंग से योंही पूछा—

"यहाँ एक सेठ ठहरे हुए हैं, उनके पास बहुत लोग आते जाते हैं। लेन देन का व्यापार करते हैं...अक्सर फिल्म कम्पनियाँ वाले ही इनके यहाँ आते जाते हैं ?"

"क्या आप किसी फिल्म कम्पनी से सम्बन्ध रखते हैं" सुजाता ने बेसब्री से पूछा।

वह इतमीनान से बोले— "निजी सम्बन्ध तो नहीं पर हाँ उन लोगों से मेरा परिचय ज़रूर है और इस परिचय के नाते वह मुझे सेठ साहब से सिफारिश करवाने के लिए ज़ोर देते हैं क्योंकि सेठ साहब मेरे पुराने जान पहचान वाले हैं।

"सिफारिश किस बात के लिए ?" सुजाता ने ही पूछा... "रु० सूद पर दिलवाने के लिए" उन्होंने ऑमलेट का टुकड़ा मुँह में डाला और चबाते हुए बोले— "पूरा घाघ है वह, बात इस ढंग से करता है कि आने वाला आकर फँस ही जाए ?"

"रु० की ज़रूरत सब कुछ करवा लेती है" सुजाता ने कॉफी का प्याला नीचे रखते हुए बड़ी बूढ़ियों की समझदारी का सा भाव प्रदर्शित करते हुए कहा।

सिन्हा साहब बोले— "और मजे की बात यह है कि यह फिल्म कम्पनियों वाले भी कम चालाक नहीं होते। जो दूसरों को चकमा देते हैं वही सेठ सेवाराम के चक्कर में आ जाते हैं। यह जनता फिल्म स्टूडियो वाले तो इसके हाथों में बुरी तरह फँसे हुए हैं। कल रात को वही लोग तो आये हुए थे।" "हूँ"... सुजाता ने हुँकारा भरा।

मैंने पूछा— "रु० किस हिसाब पर देता है ?"

दो रु० सैंकड़े के हिसाब पर, वह भी तब जब देखता है कि सूद पर रु० देने वालों की बहुत कमी नहीं है। यही सेवाराम किसी ज़माने में दो सौ रु० पर नौकर था। अब देखो, चाँदी बना रहा है...। जबकि जनता ज़िला फिल्म कम्पनी वालों से वह तीन रु० सैंकड़ा के हिसाब से देने को कहता है, आजकल रु० देने वालों की कुछ कमी है न...।

सिन्हा साहब ने बात कह कर मेरी ओर देखा... उस दृष्टि से मुझे चिड़ सी हुई— पर सुजाता उनकी बातों में रुचि लेती हुई बोली—

"माना कि वह सूद लेता है... पर यह भी क्या ठिकाना कि रु० पूरा उसको मिल भी जाता हो ?"

"अरे क्या बात करती हो। सेठ सेवाराम बड़ा समझदार है इस मामले में...। देखो वह ऐसा करता है... सिन्हा साहब ने मेज़ पर दाहिना हाथ रखा और मेरी ओर देखते हुए बोले—

"समझ लीजिए कि मुझे दो हज़ार की ज़रूरत है... बात दो रु० सैंकड़ा मासिक के हिसाब से तय हुई। मैंने कहा पाँच बरस तक रु० नहीं लौटा सकूँगा...। सेठ साहब कहते हैं 'तो अच्छा रु० तुम्हें मैंने दिया, पर एक शर्त पर, इसके लिए दो सौ तुम्हें पेशगी देने होंगे ? मैं मान जाता हूँ रु० की जरूरत है तो यह करना ही पड़ेगा। सेठ दो सौ रु० लेकर मुझसे हुँडियाँ लिखवाने को कहता है...। "वह किस लिए ?" मैंने उत्सुकतावश पूछा— "अरे वाह ! सेठ के पास कुछ प्रमाण न रहेगा तो रु० वसूल कैसे करेगा... ?" मैं चुप हो गई... वह बोल उठे—

"दो हज़ार एक हुए... पाँच साल की सूद का रु० हुआ

दो हज़ार चार सौ... कुल की रसीद बनी चार हज़ार आठ सौ की--।

"बाप रे ! यह तो दुगने हो गये," मैंने कहा—

"दुगने से भी अधिक..., पेशगी लिए हुए रु० अलग... बाद को कौन कटवाता है...और कौन उसके लिए रसीद देता है..." सिन्हा साहब मुस्कुरा कर बोले।

मैंने हैरान होते हुए उन्हें देखा और आँखें दूसरी ओर फेर लीं... दुनिया में छल है, धोखा है... इसका एकाएक विचार हो आया, पर सिन्हा साहब कह रहे थे— "तुम समझती हो कि सेठ सेवाराम अपने खर्च पर होटल में ठहरा हुआ है ?"

"क्या मतलब ?" सुजाता ने पूछा— "नहीं, वह अपने खर्च पर नहीं रह रहा। इस होटल में अधिकतर व्यापारी लोग आकर ठहरते हैं। जनता फ़िल्म वालों को बीस हज़ार की ज़रूरत थी; वह सेठ से पत्र व्यवहार कर रहे थे, पर बात बनी नहीं... हार कर उन्होंने लिखा—हम स्वयं आपके पास आ जाते हैं...। लेकिन सेठ ने कहा... नहीं यहाँ क्या करेंगे ? मैं ही वहाँ आ जाऊँगा..."

"हूँ" सुजाता सुनती रही और वह कहते गये। जनता फ़िल्म वालों को मिल गया है तीस हज़ार रु०... करते भी क्या; फिल्म बनती-बनती अधूरी रह गई थी। रु० खत्म हो गया, तो हार कर सेठ के सामने हाथ फैलाने पड़े, तीन साल के लिए दो रु० सैंकड़ा मासिक सूद पर रु० लिया है...।" उधर मैं हिसाब लगा रही थी...

सूद का रु० हुआ छः सौ महीना और तीन साल का हुआ कितना... ? कि सुजाता बोल उठी... "पेशगी कितना दिया था ?"

पाँच सौ रु० और होटल का बिल दो सौ अलग।"

"बड़ा अच्छा व्यापार है' सुजाता ने कुछ सोचते हुए कहा... मैं समझ गई—सुजाता अपने ताज़े मिले हुए सोलह हज़ार रुपयों की बात सोच रही है..., कि सिनहा साहब पूछ बैठे—"डाक्टर साहब से कहिए जमा किया हुआ रु० इस काम में लगा दें ?"

सुजाता हँस पड़ी...बोली—"हम सेठ लोग नहीं हैं सिनहा साहब, .. सफेद पोश हैं, जो आया खर्च हो गया...।"

अरे सेठ क्या जन्म से कोई होता है ? यह तो अभ्यास डालने की बात है...फिर रुपया जाता कहीं नहीं, बस आदमी को ज़रा होशियार रहना चाहिये—और रुपये देने की बात भूल नहीं जानी चाहिये। ऐसे ही जैसे सेवाराम हर महीने एक धमकी भरा पत्र अपने कर्ज़दारों को लिख देता है...।"

यह बातें हो ही रही थीं कि बेयरे ने दरवाजे पर दस्तक दी...। उससे पूछा तो मालूम हुआ जनता फिल्म वालों का आदमी सिनहा साहब को बुलाने आया है...। सिनहा साहब जल्दी से उठ खड़े हुए और बोले—"कम्बख्त पीछा नहीं छोड़ते।"

उनके जाने के बाद सुजाता ने मुझ से कहा—"क्या ख्याल है रमा...पैसा लगाओगी ?" "छोड़ो भी दीदी...तुम तो ऐसी बातें करने लग जाती हो कि बस...आगा पीछा सब भूल जाती हो ! यह हम लोगों के काम नहीं...।"

"हाँ, पीछे पड़ना भी मामूली काम नहीं..." सुजाता ने बच्चे के स्वेटर में बटन टाँकते हुए कहा—और मुझसे बोली—"मैं तो चली जाने वाली हूँ, तुम से यही बात वह कभी कहें भी तो उनकी बातों में मत आना"। "दीदी; मेरी ही बात कही, क्यों ?"...मैंने

हँसते हुए कहा। सुजाता ने झेंप अनुभव की। राज, बड़े होने के नाते कभी-कभी बड़प्पन का गौरव छोटे के आगे झुक जाता है। पर आदमी उस झुकने को स्वीकार करने के लिए तैयार क्यों नहीं होता।

"कहीं मेरा कहना दीदी के लिए सीख न समझी जाये, यही सोच दीदी मेरे ऊपर ही आ बनी...खैर कोई बात नहीं, वास्तव बात ये भी जानती थीं और सुजाता भी समझ गई थी।

हम लोग कहीं बाहर जाने वाली थीं— सिनहा साहब से पीछा छूटा तो नीचे आईं, तभी देखा सिनहा साहब सेठ सेवाराम के साथ बातचीत कर रहे हैं और टैक्सी में फिल्म कम्पनी वाले बैठे हैं—

तुम्हें यह जानकर आश्चर्य होगा कि सेठ सेवाराम कोई और नहीं, वही सेवाराम है जो बैंक में दो सौ रु० पर नौकर था— और किसी ग़लती के कारण बैंक की नौकरी उससे छूट गई थी।

अब वह लाखों में खेल रहा है...

अच्छा राज, अभी इतनाही—

यहाँ रहूँगी तो तुम्हें लिखूँगी—

—रमा ही

## अट्ठारहवां पत्र

राज,

उस दिन गर्मी बहुत थी । मैं कमरे में चहलकदमी कर रही थी । सिनहा साहब हमारे कमरे में आए और पहुँचते ही बोले—"पश्चिम की ओर बादल आया है। बरसेगा खूब। चलो न, चल कर ज़रा घूम आएँ।" गर्मी से मैं खुद परेशान थी, सो बिना आना कानी किए चल पड़ी । सुजाता घर लौट चुकी थी, सो किसी से पूछने की बात भी नहीं थी ।

हमने गेट पर से ही टैक्सी ले ली। टैक्सी मैरीन ड्राइव की ओर से घूमती हुई चर्च गेट की ओर बढ़ी, फिर वह बड़े तपाक से बोले—"ड्राइवर, जुहू की ओर।" मैं कुछ कहने को ही थी कि वह बोल पड़े—"बादल फट रहे हैं, आज पूर्णिमा है, जुहू पर खूब अच्छा रहेगा।" मैं न करने को थी पर कुछ सोच चुप हो गई ।

जुहू पहुँचते-पहुँचते चार बज चुके थे। वहाँ पहुँचते ही हम ने कुछ फल खरीदे और फिर टैक्सी को छोड़ थोड़ी दूर पैदल चल हम पेड़ों के नीचे आ बैठे। फल खाते-खाते उन्होंने पूछा—"अब हम कहाँ जायेंगे ?"

"मैं समझी नहीं आप का मतलब ?" मैंने उत्तर दिया ।

वह कुछ झेंप-से गए, पर तुरन्त ही अपनी झेंप को छिपाते हुए बोले—"मेरा मतलब है.....कुछ रात गए यहाँ से लौटना होगा, क्योंकि लहरों का ज्वार-भाटा अभी बढ़ना आरम्भ ही हुआ है।"

"अच्छा," कहकर मैं चुप हो गई। कदाचित उनका यह

प्रयत्न मेरी अनुमति लेने के लिए था। इधर-उधर की बातें करते-करते हम अचानक एक ऐसे प्रसंग पर आकर चुप हो गए, जहाँ क्षण भर के लिए मुझे रोमाँच हो आया। मैंने बहुत छिपाने की चेष्टा की, लेकिन वह शायद उसका प्रभाव पहले से ही लक्ष्य किए बैठे थे। इसी से जल्दी से मेरा हाथ दबाते हुए बोले—

"बताओ, क्या बात है ?"

"कुछ नहीं, कुछ नहीं, यूँ ही, यूँ ही,"

मैंने टालने की कोशिश की। पर देखती क्या हूँ कि वह मेरी पीठ के पीछे चुपके से आकर खड़े हो गए हैं। मेरे चेहरे को दोनों हाथों में ले उन्होंने मेरी आँखों में देखा। मैंने जल्दी से उनके हाथ पीछे हटाए और मैं स्वयं ज़रा दूर हट आई। पर लज्जा और परेशानी से मेरा हाल बुरा था। मेरी पीठ को वह सहलाते हुए बोले—"तुम बहुत अच्छी हो।"

"जी.....ज़रा..... "मैं सिकुड़-सी गई।

फिर थोड़ी देर चुप रहकर वह बोले—"जीवन में कैसे आश्चर्यजनक अवसर मिलते हैं। मुझे अक्सर उन स्त्रियों की याद हो आती है जो प्रेम में डूबी रहती हैं और प्रेम करने वालों के प्रति कृतज्ञ रहती हैं। कुछ ऐसी स्त्रियाँ भी हैं जो प्रेम करना चाहती हैं, पर उनके प्रेम में ओछापन होता है, बनावटीपन होता है। ऐसी स्त्रियाँ यह प्रकट करना चाहती हैं कि उनका व्यवहार प्रेम न होकर उससे कहीं अधिक आवश्यक वस्तु है। क्यों क्या यह ठीक है ?" उन्होंने पूछा। जवाब मैंने नहीं दिया। इसपर वह फिर बोले—"ऐसी स्त्रियाँ उद्दंड होती हैं; जो केवल शासन करना जानती हैं। इस शासन से मुझे बेहद चिढ़ है।

नितान्त मैं कह ही बैठी—"तो जनाब आपको स्त्रियों से मिलने-जुलने का अवसर खूब मिला है।"

वह बोले—"हाँ, लेकिन सम्पर्क नहीं।" हँसते हुए वह मेरी ओर बढ़ आए और धीरे से बोले—"तुम उन सब में से निराली हो। उनमें से किसी के साथ भी तुम्हारी बराबरी नहीं की जा सकती।"

"हूँ ?" मैं मान दिखा बैठी।

समुद्र अशान्त हो रहा था, जैसे कोई भीतर ही भीतर उफन रहा हो। तट को छू-छू कर लहरें आगे बढ़-बढ़ कर खेल-खेल जाती थीं। मेरी दृष्टि उन्हीं लहरों के खेल में अटकी थी और इधर चोरी-चोरी जाने कैसे वह देख रहे थे।

कुछ अशान्त से होकर वह बोले—"मैं तुम्हें धोखा नहीं दे रहा, सत्य कहता हूँ कि..."

"बस, बस, रहने दीजिये !" न जाने कैसे मैं रुदन के-से स्वर में बहुत व्याकुल हो रही थी। मेरी आँखों में आँसू देखकर वह घबरा उठे और बोले—"बताओ बात क्या है ? क्या मेरी किसी बात से तुम्हें चोट पहुँची है ?"

"हाँ, मामूली चोट नहीं, बहुत बड़ी चोट। परन्तु तुम्हारी बातों से नहीं अपने ही विचारों से।" कहते-कहते मैं बिलख पड़ी, उन्होंने मेरी पीठ को सहलाते हुए मुझे शान्त करने की कोशिश की। परन्तु मैं सुबकते-सुबकते कहती गई—"मुझे आपके साथ नहीं आना चाहिए था। लोग मेरे लिए क्या कहते हैं, मैं वह सब सुनती हूँ। लोग कहते हैं, मैं पति से विश्वासघात कर रही हूँ। पर मैं जानती हूँ, यह सब जान-बूझ कर नहीं होता, अकारण ही हो

आता है। यह ठीक नहीं है, यह ठीक नहीं है।" मैं बिलख पड़ी, फिर कुछ शान्त हो कर बोली—

"सब से पहले आप के हृदय में ही मेरे प्रति अश्रद्धा की भावना का उदय होगा। श्रद्धा को खोकर मुझे सहानुभूति नहीं चाहिए।"

"लेकिन तुम्हारे प्रति मुझे अश्रद्धा क्यों होने लगी ?"

"मैं अपने बुरे की नहीं कहती, उनके अनिष्ट की सोचती हूँ, वह जो इतने महान हैं, जिनकी योग्यता माननीय है और जिन की मैं विवाहिता हूँ। मैं किस तरह अपने को दोष-रहित समझूँ। मैं घृणित हूँ पापिन हूँ। मुझे मत छुओ, मत छुओ।"

मेरा रुदन चीत्कार कर रहा था और समुद्र में ज्वार-भाटा बढ़ आया था। हम दोनों के पाँव गीले हो रहे थे। उधर चन्द्रमा की धुँधली रोशनी चारों ओर मुसकरा रही थी। व्याकुल-सी थी, परेशान-सी थी। क्या करूँ, क्या सोचूं ? कुछ समझ में नहीं आ रहा था। उधर वह मेरे सिर को सहलाकर ढाढ़स दे रहे थे, जिससे मैं और भी विकल हो रही थी। उसी अधीरता के वश मैंने उनके दोनों हाथों को पकड़ कर दूर हटा दिया, कुछ ऐसा प्रकट करते हुए जैसे मुझे सहलाते-सहलाते उन के हाथ दर्द करने लगे होंगे।" आगे वह खामोश थे और मैं कभी उस समुद्र को और कभी हाहाकार करती हुई उन लहरों को देख रही थी, जो बराबर मेरे भीतर शोर मचा रही थीं। मैं समझ नहीं पा रही थी कि जिस पुरुष का साथ मुझे अच्छा नहीं लग रहा था, उसे प्रताड़ना देने की अपेक्षा मैं उसके प्रति सदय क्यों बन रही थी।

और फिर एकाएक उन के हाथ को पकड़े मैं उठ खड़ी हुई,

बोली—"चलिए। बहुत रात बीत चुकी है। सत्या क्या सोचती होगी?" कहते-कहते मुझ में बल का संचार हुआ और भय की सिहरन का भी आभास हो आया।

कुछ देर सड़क पर चलने के पश्चात हमें एक टैक्सी मिल गई, जो हमें होटल तक ले गई। गेट पर खड़े चौकीदार की दृष्टि में कौतूहलपूर्ण परिहास था, जिसे मैं समझ गई। लिफ्ट पर जो आदमी था, वह हम दोनों को देख कुछ मुसकराया। मैं अपने कमरे तक पहुँची। सत्या लेटी हुई थी। घंटी बजते ही उसने किवाड़ खोल दिए। उसकी आँखों में मेरे प्रति एक ऐसी घृणा थी, जिसे मैं देख तिलमिला उठी, पर प्रत्यक्ष में लापरवाही का भाव दिखाते हुए बोली—"सत्या, आज खूब आनन्द आया। जुहू गई थी अशान्त समुद्र को देखा, ज्वार भाटे को देखा और सत्या, तुम जानती हो वहाँ लहरें कैसा शोर मचा रही थीं? सच कहती हूँ सत्या, तुम साथ होतीं तो मैं उन लहरों के साथ खूब खेलती।"

"होश में हो कि नहीं? रमा तुम्हारा साथ मुझे छोड़ना ही पड़ेगा।" सत्या ने घृणा से देखते हुए गम्भीर परन्तु क्रुद्ध होते हुए कहा।

"मैं ने उसकी गर्दन में बाहें डाल दीं और उस से चिपकते हुए कहा—"मेरा सर्वनाश तुम आसानी से नहीं कर सकोगी, सत्या।"

तब जाने कैसे, किस प्रेरणा से उसने मुझे अपने से चिपका लिया। फिर कहा—"पगली कहीं की, तुम्हारी इन्हीं बातों से तो मैं विवश हो जाती हूँ, नहीं तो तुम्हे छोड़ मैं कभी की जा चुकी होती।"

मुझे अपने में समेट वह सोने और सुलाने का उपक्रम करने लगी। कुछ देर यों ही मैं बन्द आँखों से उसे निहारती रही। फिर जब वह सो गई तब मैं धीरे से उसके पास से खिसक आई।

तब की बात मत पूछो राज! सत्या के शान्त और तपस्वी चेहरे को देख मैं चौंक पड़ी। ओफ, कितनी बड़ी निष्ठा थी उसके निश्चय में! कितना बड़ा त्याग था उसकी तपस्या में! कितनी बड़ी शान्ति थी उसके यौवन में! लगता था जैसे सब सहना ही एक मात्र व्रत है और उस व्रत को धारण कर सत्या का रूप देवी तुल्य जान पड़ा। धीमी-धीमी रोशनी कमरे में फैली थी, मेरी परछाईं शीशे में दिखाई दी। ओफ, कह नहीं सकती कि अपने मुख कि वह आभा मुझे कितनी कान्तिहीन प्रतीत हुई। मेरे चेहरे के दोनों ओर मेरे लम्बे बाल जूड़े में से लटक कर गालों के नीचे तक झूम रहे थे, जैसे वह मेरी नादानी और उसके मिलने वाले पश्चाताप पर अपना-अपना शोक प्रकट कर रहे हों। मेरा उतरा हुआ, ग्लानि से भरा चेहरा इस तरह चिन्ता में ग्रस्त था जैसे किसी भटकी हुई स्त्री का चेहरा किसी चित्र में चित्रित किया गया हो।

जी चाहा अपने बालों को नोच डालूं, उखाड़ फेंकूं। फिर अपने कपड़ों की ओर निगाह डाली। सुन्दर, कीमती साड़ी की लपेट जैसे एकाएक मेरे हृदय को कसने लगी। जी चाहा उसे तार-तार कर दूं। ओफ, इस साड़ी पर तो मुझे नाज़ था। मैं सोचती थी कि इसमें मेरे रूप को चार चाँद लग जाते हैं। लेकिन उस समय मुझे लगा जैसे मेरे भीतर की आशक्ति सब इसी के कारण हुई है।

वह साड़ी उतार कर मैंने दूर फेंक दी। ब्लाऊज़ उतार कर

दाँतों से फाड़ डाला। जी चाहा अपने शरीर का अन्त कर दूँ, पर अपने को बर्बाद करने से पहले मैं तुम्हें जी भर कर गालियाँ देना चाहती थी, जिसकी अपेक्षा से आज मेरा यह हाल हुआ। इसी से उस रात सिवाय रोने कलपने के मैं और कुछ न कर सकी।

राज, मैं मानती हूँ कि स्त्री के ऊपर किसी का अधिकार इस लिए होना जरूरी है कि वह बिना किसी अधिकारी के किसी भी समय उद्दंड हो सकती है। उस रात मैंने स्पष्ट अनुभव किया कि मुझे पाकर अगर तुमने मुझ पर अपना अधिकार दिखाया होता तो मैं किसी कारण से भी तुम्हारे घर की देहरी को लाँघने की कोशिश न करती, और न करती वह सब, जो करना मेरे लिए उचित न था। परन्तु कहा न कि अँकुश बिना हाथी भी उद्दंड हो जाता है। फिर आदमी की बात तो और भी अलग है—अपनी ओर से सबल होने का प्रयत्न करता हुआ भी वह किसी के घेरे में घिर जाने से अपने को नहीं बचा सकता।

—रमा

## अठारहवां पत्र (अ)

राज,

उस रात जब मैं रोते-रोते सो गई तब स्वप्न में देखा..... तुम मेरे दोनों हाथ पकड़े मुझे ढाढ़स बंधा रहे हो और मुझे इस बात का विश्वास दिला रहे हो कि बीती अप्रिय घटनाओं के लिए तुम्हारे मन में मेरे प्रति तनिक भी घृणा का भाव नहीं है।

स्वप्न देखते-देखते मैं तुम्हारे अन्तिम शब्दों को सुन कर चौंक उठी। तभी न जाने क्यों खयाल हो आया कि कहीं मेरी तरह तुम भी तो अपनी राह से भटक नहीं गए। मैं भयभीत हो उठी और दोनो आँखों को ज़ोर से दबाए मैं चिल्ला पड़ी—"सत्या, सत्या, मुझे बचाओ!" सत्या हड़बड़ा कर उठ बैठी। मुझे रोते देख वह घबरा कर बोली—" क्या हुआ है रमी ? बताओ न, रो क्यों रही हो ?

मैं ने रोते हुए कहा—"मेरा सर्वनाश हो गया है, सत्या ! राज मुझ से दूर होता जा रहा है। स्वप्न में उसने मेरे दोषों को क्षमा कर दिया है। पर... पर मुझे नहीं।"

"कैसी बहकी-बहकी बातें करती हो रमी ? आखिर तुम्हें हुआ क्या है ?"

"सत्या वह मुझ से दूर हो गए हैं। मैं उन्हें शायद ज़िन्दगी भर न पा सकूंगी।"

"पगली कहीं की ! ऐसी बात नहीं कहते" सत्या बोली। इस के अलावा वह कर भी क्या सकती थी !

रात जैसे-तैसे बीत गई। सुबह मैं ने अपना पीला और फूला-फूला चेहरा देखा तो मैं आर्द्र हो उठी, स्वयं से बोली—

"यही हाल होगा तेरा, आगे और देखना।"

व्यथा कितनी भारी होती है राज ! मैं स्वयं उस भार की अपेक्षा हल्की पड़ गई हूँ। रात का पश्चाताप सुबह होते ही मेरे लिए अभिशाप-सा बन आया। साधन क्या ढूंढती जिससे उस पश्चाताप से बच सकती ? इसी बचाव के लिए मैंने उस सज्जन के कमरे की राह ली, इस आशय से कि खरी-खोटी सुनाकर अपना भार उतार लूं।

मैं तेज़ी से उसके कमरे तक गई। पर यह क्या ? भीतर की चिक उठा कर देखा तो सब वीरान था।

चारपाई पर कागज़ के टुकड़ों का ढ़ेर लगा था। बेग बिस्तर नदारद। वह सज्जन जा चुके थे, यह समझते मुझे देर न लगी। इधर-उधर निगाह डाली।

वहाँ लिखे हुए कई पृष्ठ बिखरे पड़े थे। कुछ अधजले एक कोने में पड़े थे। मालूम होता था जैसे जलाते समय कुछ पृष्ठ उड़ कर एक किनारे जा लगे हों। उन्हें सहेज कर मैंने इकट्ठा किया। पहला पृष्ठ पढ़ने लगी, लिखा था:—

"लिखना मेरा धन्धा नहीं था, पर मैं जानता था कि मेरे साहित्यिक विचारों से प्रेरित होकर लोगों में मेरा सम्मान बढ़ेगा। इसीलिए विचारों को सूत्रबद्ध करके मैंने लिखने का उपक्रम किया। मैं नहीं जानता कि मैं कहाँ तक सफल रहूँगा। मुझे आशा है कि अपनी चतुरता से मैंने अपनी सफलता का रास्ता पा लिया है।"

दूसरा पृष्ठ था—

"मैं ज़िन्दगी का मज़ा लूटना चाहता हूँ। हाँ सिर्फ ज़िन्दगी का, क्योंकि मेरा हृदय अशान्त है, क्योंकि मैं स्वयं पर नियन्त्रण नहीं रख सकता। मैं अपनी स्त्री से अपनी बीमारी का बहाना बनाकर महीनों से इधर-उधर की ख़ाक छान रहा हूँ। लेकिन मुझे शान्ति अभी तक हासिल नहीं हो सकी।

तीसरा पृष्ठ था—

"रमा से मैं परिचय बढ़ाना चाहता था। इसी से मैं उसके निकट आने की कोशिश में था। यह छल, यह धोखा मेरा स्वभाव है। गले बाँधी घन्टी की तरह मैं किसी को अपने में बाँध नहीं सकता। मुझे केवल भूख मिटानी है, केवल भूख।

"सम्भव है कि धोखा देने की अपेक्षा मैं ही धोखा खाऊँ, पर जो होगा देखा जाएगा। अभी जो है वह है भूख जो तृप्त होना नहीं चाहती, बल्कि तृप्त हो-हो कर भी विकल होती रहती है।"

आगे का पृष्ठ—

'मैंने रमा को जीतने की कोशिश की थी। पर लगता है कि उसे जीतने में मैं स्वयं हारता जा रहा हूँ, क्योंकि यह सब मैं कल रात देख चुका हूँ।

"सागर अपनी सुन्दरता का मादक प्रभाव उसपर डाल रहा था। मैं सोच रहा था, सुन्दरता की अनन्त राशि जैसे मेरी बगल में बैठी है। पर यह क्या? उसको सामने पा मुझे अपनी भूख महसूस नहीं हुई। मैंने उसकी कोमल कलाइयों को छुआ है। बस ...बस इसके आगे कल्पना करना भी पाप है। हाँ, सचमुच पाप है। मैंने उसकी वाणी में कातरता देखी है। उसके स्पर्श में मैंने उसका स्पन्दन भी सुना है। पर उसके मस्तक को छू कर मुझे ऐसा

अनुभव हुआ है जैसे बर्फ-सी जैसी ठन्ढ़क में एकाएक गर्म हाथ पड़ गए हों, उन हाथों में मुझे अजीब तरह का सुख महसूस हुआ। यह कैसा स्पर्श है, मैं जान नहीं पाया। फिर भी प्रतीत होता है जैसे वह ठन्ढ़क धीरे-धीरे मेरे अशान्त हृदय में समा गई हो। उस ठन्ढ़क का अनुभव करके मैंने दूर गरजते हुए समुद्र को देखा। हँसते हुए चाँद को भी देखा और उसकी छिटकी हुई चाँदनी को भी देखा जो समुद्र की छाती पर लहरों का ताना-बाना बुन रही थी।

"और यह क्या ? ओफ, मैं कितनी भूल में था। मैं समझ रहा था कि मानव-जाति के किंचित कार्यों को छोड़ कर संसार में प्रत्येक वस्तु बहुत सुन्दर है, इतनी सुन्दर कि जिसका अनुमान लगाना भी कठिन है। तभी मैंने रमा की सुन्दरता को देखा। देखा उसका आँसुओं से भरा चेहरा, सुनी उसकी हल्की-हल्की सुबकियाँ और सोचा कैसे यह सब अहित मेरे ही द्वारा हो गया ?"

"ओह, मेरे भीतर की आग एकाएक बुझ गई है। मेरा तन और मन आर्द्र हो उठे हैं। उसके स्पर्श से मुझे शान्ति प्राप्त हो गई है, ऐसी शान्ति जिसका लेप मेरे लिए समस्त जले हुए मवाद भरे घावों को शीतलता प्रदान कर रहा है।"

"मैं रमा को मानवी नहीं, देवी समझता हूँ और सोचता हूँ कि देवी के पास रहना हम मनुष्यों का काम नहीं। हाँ, उससे दूर, बहुत दूर उसके दर्शनों की अभिलाषा करने में ही मेरा कल्याण है।"

"मैं पापी हूँ, मेरे पापों का कोई अनुमान नहीं लगा सकता। मैं खुद भी लगा नहीं पाया। पर अब मैं समझता हूँ, यह पाप मेरा अन्तिम है, उससे आगे कुछ नहीं...कुछ नहीं।"

"मैं वह सब यहीं फाड़े जा रहा हूँ, जिसको लिखने की मेरी

कोशिश थी, शायद रमा के चरित्र से मुझे बहुत कुछ सामग्री मिल गई है और मैं समझता हूँ एक सफल लेखक बनने की प्रेरणा मुझे मिल गई है। मैं सुबह होने से पहले ही चला जाना चाहता हूँ, क्योंकि मैं जानता हूँ मेरे व्यवहार से जिसे कष्ट हुआ है उसके सामने मैं खड़ा नहीं हो सकूंगा।"

पत्र पढ़ा, पढ़ कर राज, बहुत दुःख हुआ। सोचती हूँ जिसे जीवन भर किसी ने नहीं समझा, उसे किसी ने समझा तो वह भी मालूम कब हुआ? जब समझने वाला दूर जा चुका था। जिसके चरित्र ने मेरे मन में ग्लानि भर दी थी, उसी के उपकार से मुझे गर्व-सा हो रहा है, वह मेरे लिए श्रद्धा का पात्र बन गया है।

मैं जो लिख रही हूँ वह कदाचित हास्यास्पद है। किसी की भूल भी कितनी प्रभावशाली होती है, यह मैं आज, इस समय, इस कमरे में बैठी अनुभव कर रही हूँ। मगर मैं क्यों कहूँ कि मैं भटक चुकी हूँ। वह भूल जो भटकने का कारण नहीं बनी, अपितु पतन से बच जाने के साहस को पैदा कर गई है, उस भूल पर पश्चात्ताप कैसे करूँ? मैं सोचती हूँ मेरा यह सौभाग्य ही है जो खेल-खिलवाड़ कर-करा के मुझे अन्त में जीत दे देता है। मैं खेल से जूझ-जूझ कर भी खेल के अँजाम को दोनों मुट्ठियों में दबाए रहती हूँ। मैंने किसी को क्या दिया? कुछ भी नहीं। तुम्हें पाया और पाकर खो दिया। दूसरों को देखा, देख कर आँखें मूँद लीं। जिसको पकड़ना चाहा वही हाथ झटक कर दूर चला गया। मैं कभी सोचा करती थी, पर अब मुझे कोई दुविधा नहीं रही।

मैं चाहती हूँ एक सम्पूर्ण सुख, एक भरपूर आनन्द, एक अनन्त शान्ति, एक चिरस्थायी सन्तोष। पर सोची बातें पूरी कहाँ

होती हैं ! सुख लेते-लेते लम्बी उम्रें भी अन्त तक आ पहुँचती हैं। फिर भी उस सुख के प्रति आश्वासन नहीं हो पाता। एक आह्लाद बाहर-भीतर समा नहीं सकता। वह सब ऐसा उथला, ऐसा हल्का-सा दिखाई देता है जैसे वह सुख केवल वही सुख है जिसके प्रति कोई याद नहीं होती, कोई उत्साह नहीं होता। तभी तो सोचती हूँ, तुम से बिछुड़ कर फिर कहीं तुम्हें कुछ क्षणों के लिए पा लेती और केवल एक क्षण के लिए भी ऐसे सुख को पा लेती तो मेरा वह सुख अनन्त बन जाता। मरते दम तक भी राज, मैं यही आकाँक्षा करती रहूँगी कि कहीं ज़िन्दगी में कुछ तुम्हारे साथ ऐसा दीखे जहाँ मैं समझूँ कि समय और स्थान निरापद है, दिशा स्वयं क्षितिज की बाहों का सहारा लिए है, उसके ओर-छोर तक ऊदे बादलों का जमघट है। तब समय कितना सुन्दर होगा राज, जब सन्ध्या अपने घूँघट में से शर्मा रही होगी और पंछी बड़ी उत्सुकता से अपने नीड़ों की ओर भागते जा रहे होंगे। नीचे खुले मैदान में हरी हरी घास पर खिले जँगली फल सिर उठाए मुसकरा रहे होंगे और तब, जानते हो क्या होगा ? सुनो, तब मेरी कल्पना के पँखों पर उड़ कर तुम आ पहुँचोगे और मेरा सिर अपनी गोद में लिए सहला रहे होगे। तुम्हारे हाथ मेरे बालों से खेल रहे होंगे। तुम्हारी अधखुली आँखें मुझे निहार रही होंगी। तब उस प्यार को अपने में पूरी तरह भर कर मैं धीरे-धीरे सुबक पड़ूँगी—उस आनन्द की अनन्त राशि को समेट कर जो मेरे इर्द-गिर्द चारों ओर छा जाएगी। उस ख़ामोश, सन्ध्या की वीरानगी में मैं अपने सुख को चारों ओर बिखेर दूँगी। मेरी सुबकियों को सुनने के लिए बादल झुक-झुक आएँगे, फुस-फुस करती हुई हवाएँ चोरी-चोरी मेरे कानों

के इर्ग-गिर्द काना-फूसी करने को सिमिट-सिमिट कर आ बैठेंगी। झूमते हुए फूल अपने कान खड़े कर लेंगे, क्योंकि मेरी सुबकियाँ अनन्त सुख की प्रतीक होंगी, अन्त समय का गीत बन कर भी वे अनन्त हो जाएगी। वह गीत कितना शान्तिप्रद होगा, वह मृत्यु कितनी सुखदायी होगी! उस गीत की ध्वनि मेरे अन्तर में समा जाएगी और उसी का आश्रय ले मैं खूब सुख की बेहोशी में विलीन हो जाऊँगी। सच राज, अपनी मृत्यु का ऐसा सुखदायी समय सोच-सोच कर ही अपने तक सम्पूर्ण हो रही हूँ।

ज़िन्दगी के अनन्त दुःख उस एक क्षण में चिर शान्ति बन जाएँगे, यह सब सोचना कितना अच्छा है राज! क्या किसी ने अपने अन्त का ऐसा सुन्दर अँजाम सोचा है? किस्मत ने कभी हम दोनों को मिलने का अवसर दिया तो बताऊँगी कि सुख की आशा लेकर मरण कैसा होता है। अच्छा तो बिदा। पुरानी चाह के साथ,

—कभी की वही रमा

## उन्नीसवां पत्र

मेरी कलम के साथी,

अतिरिक्त तुमसे कभी कुछ नहीं लिखा, शायद इतना भी नहीं कि किसी की कुशल-क्षेम भी पूछ सकूँ। सुजाता ने जभी लिखा, जवाब दो पंक्तियों में देकर चुप रह गई। सूझ ही नहीं पड़ता कि लिखूँ भी क्या ? मगर जब तुम्हें लिखने बैठती हूँ तब दुनियाँ भर की बातें कह डालती हूँ। चाहे उनसे मेरा निजी सम्बन्ध तनिक भी न होता हो, फिर भी लिखने को जैसे बाध्य हो जाती हूँ।

बहुत बड़े झँझट से निबटारा पा चुकी हूँ। शिमले हूँ। कान्वेन्ट स्कूल में स्थायी नौकरी पा ली है और रहने को होस्टल में जगह मिल गई है। सत्था मेरे साथ है। वह माँटेसरी ट्रेनिंग ले रही है। गुज़र हम दोनों की भली प्रकार हो रही है। लगता है ज़िन्दगी भरपूर है, क्योंकि ज़िन्दगी के अभाव से जो घाव बन आए थे, उन्हें व्यस्तता का मरहम लगाकर भरने की कोशिश कर रही हूँ।

बात यह नहीं कि व्यस्तता यह काम काज की है, बल्कि यों कहना उपर्युक्त होगा कि यहाँ के वातावरण के प्रभाव से अपने को व्यस्त पा रही हूँ— कुछ काम करने से और कुछ इधर-उधर घूम लेने से।

होस्टल में बहुत लड़कियाँ हैं— भाँति-भाँति के चरित्र को पढ़ने और समझने के लिए बहुत-सा साधन है। कुल मिला कर पचीस ऐसी हैं, जिनसे मेल जोल बढ़ा रखा है। उनमें से भी तीन चार से मेरी खूब बनती है। कमला तो मेरी अन्तरंग सहेली है, ज़हर को पी कर अमृत समझ पचा रही है। देखती हूँ तो अपने को

ढाढ़स बँधाती हूँ। जीना उससे सीख रही हूँ, क्योंकि जीना हमारे पल्ले पड़ गया है।

कमला अभी कुमारी ही है। मेरे साथ ही एक कमरे में रहती है। कोई ज़माना था जब वह जीवन-साथी की तलाश में थी। लेकिन सब लोग समय पड़ते ही धोखा दे गए। और अब सुनोगे राज तो सुन कर नाक सिकोड़ लोगे। कमला लुटी थी, मगर उस लूट ने कमला को लूटना सिखला दिया है।

कल जब वह बनाव-शृंगार में थी, मैं उसे ध्यान से देख रही थी। सजना उसका था, पर उस सजने में वह स्वयं कहीं और थी। जैसे हाथ की क्रिया मन का साथ न दे रही हो। पाउडर और सुगन्ध से वह सराबोर थी, होठों पर हल्की गुलाबी लिपस्टिक लगाती हुई वह अपने से बोली— "सूरत बुरी नहीं है, क्यों? पर तेरी सीरत अच्छी नहीं। लोग मुझे नहीं, मेरे इस शरीर को प्यार करते हैं। इसीलिए मुझे स्वयं को भूल कर तुम्हारी ओर अधिक ध्यान देना चाहिए।"

ज़िन्दगी चल रही है राज, कितने बड़े धोखे के साथ। कितनी बड़ी कुरूपता को लेकर! पर हम कहाँ देख पाते हैं कि जो जिसे निजी सम्पत्ति मान बैठे हैं उसका उत्तरदायित्व केवल हम पर नहीं बल्कि समस्त समाज पर है। अगर आज मैं अपना कुछ खर्चा घटाकर कमला की सहायता कर पाती तो शायद उसे इस मार्ग पर चलने के लिए कुछ समझा पाती। पर मैं जानती हूँ, मैं भी वह नहीं कर पाऊँगी। करूँगी भी तो बस एहसान भर दिखलाने के अभिप्राय से। सो मैं जानती हूँ, एहसान के बोझ के नीचे दब कर रहना कमला के स्वभाव के बिलकुल विपरीत है।

यहाँ होस्टल में ऐसी कितनी ही स्त्रियाँ या लड़कियाँ हैं जिन की विपत्ति, जिनका सुख केवल अपने तक ही सीमित है। चलती फिरती छाया सी दीख पड़ती हैं, जो हँसती हैं दिल-बहलाव की आड़ लेकर मुसकराती हैं। शिष्टाचार के नाम पर यह सब कितनी बड़ी बेबसी है। कुछ मद्रासी लड़कियाँ हैं। वे काम करती हैं, अपनी गुज़र को नज़र में रख कर। उनकी रुचि साज-शृँगार में अधिक नहीं रहती। समय मिलने पर पुस्तकें पढ़ती हैं और पढ़कर दूसरों को भी उसमें शामिल होने को कहती हैं। एक के माँ-बाप नहीं हैं। इसी से उसका अभी तक ब्याह नहीं हो सका। दूसरी की शिकायत है कि उसकी माँ ग़रीब है। विवाह उसका कहीं तय नहीं कर पाती, क्योंकि दहेज में देने योग्य उसके पास पैसा नहीं और पैसे के बिना भी जिस रूप के बल पर लड़की आसानी से ब्याही जा सकती है, वह रूप भी उसमें नहीं और आजकल लोग गुणों की अपेक्षा रूप रंग से अधिक प्रभावित होते हैं।

सबका अपना-अपना रोना है। रोना इसीलिए है कि ऊपरी बवंडर के बीच वे स्वयं में छिपी हुई हैं, नहीं तो खाने-पहनने के अतिरिक्त भी दुनियाँ में बहुत-कुछ है। कौन नहीं चाहता कि एक चिर साथी हो, जो किसी के दुःख को सुने और सुन कर सहला दे। मगर कहने वाले तो यही कहेंगे कि दुनियाँ बदल गई है। फिर स्त्री जाति क्यों न बदलती? बदली हवा का रुख़ ही तो है जो पुरुषों की कमाई पर सब्र नहीं किया जा सकता। स्वयं कमाने की स्त्री की इच्छा अपने को स्वतंत्र भर रखने के लिये है। मगर कहने वाले कहते हैं, समझते नहीं कि इस स्वतंत्रता के पीछे कितनी बड़ी विवशता छिपी है।

सुनो, रोहिणी को तुम जानते हो न। वही, जो कभी तुम्हारी सहपाठिनी रह चुकी है। पिछले बरस उसकी शादी हो गई थी, लेकिन सुना है उसकी अपने पति से बनी नहीं। उसके विचारों और उसके पति के विचारों में ज़मीन-आसमान का अन्तर था। इसीलिए घर-बार छोड़ यहाँ आ बसी है। उसने एम० एस-सी० किया था। यहाँ अच्छी तनख्वाह पा रही है। बड़ी हँसमुख और व्यवहार-कुशल है। पर मैं उसकी सोहबत से आँख चुरा रही हूँ। सोच नहीं पाती कि उसके पूछने पर क्या उत्तर दूँगी। लेकिन कुछ न कुछ तो कहना ही पड़ेगा। इसी से तय कर रखा है —कह दूँगी कि मेरा राज अभी-अभी विलायत गया है, इसी से यहाँ टिकी हुई हूँ। लेकिन विश्वास नहीं होता कि ऐसा सफेद झूँठ मैं कह पाऊँगी। अक्सर बनी हुई बात को कहने से मैं चकरा जाती हूँ। कह वही देती हूँ, जिसके छिपाने की कोशिश में मैं चिन्तित रहती हूँ। अच्छा देखो, क्या जवाब बनता है? कुछ ऊटपटाँग कह भी दिया तो समझती हूँ आगे के लिए रास्ता साफ़ हो जाएगा।

कुछ अजीब-सी बात है राज कि मैं तुम्हें भुला न पाई। प्रेम की थाह पाकर भी मैं उसमें विस्मृत नहीं हो सकी। प्रेम क्या है? इसकी परिभाषाएँ क्या हैं? क्या कोई जान सका है? जो जान सका है, वह उसका अपना अनुमान है और अनुमानों का आश्रय लेकर लोग तर्क कर सकते हैं, ज्ञान प्रदर्शित नहीं कर सकते। तर्क और ज्ञान के इस संघर्ष में जो मैंने समझा वह यही कि प्रेम उस वेदना की आँच का उस दीप-शिखा की ज्योति का नाम है जिसकी जलन की अनुभूति उसी तक पूर्ण है...अतिरिक्त जो देखते हैं केवल उसके जलने को देख सकते हैं। मगर? तुम तो

यह भी नहीं देख सके। यहाँ इस समय कमरे में सन्नाटा है। कोई भी मेरे पास नहीं है। ट्रेनिंग लेने वाली लड़कियों के कमरे दूसरी ओर हैं। इसलिए सत्या मेरे साथ नहीं है। मेरी 'रूममेट' आजकल बाहर गई हुई है। इसी से पूरी सुविधा के अनुसार इस कमरे में विचरने का मुझे अवसर मिला हुआ है। कुछ दिनों से रात के इसी सन्नाटे में ग्रामोफोन पर एक रिकार्ड बज उठता है... शायद, दाहिनी ओर की कोठी में यह बज रहा है। यह रिकार्ड मुझे बहुत प्रिय है। वास्तव में मेरी अपनी पीड़ा का ही यह एक स्वर है। उस स्वर में मैं तुम्हें पुकार रही हूँ—

मेरे बिछड़े हुए साथी...तेरी याद सताए—

दूर तक पहाड़ियों की ऊँचाई से लेकर घाटियों तक इसकी गूंज व्याप्त गई है। जी चाहता है कमरे से निकल कर बाहर देख आऊँ! पीड़ा का जीता-जागता स्वर कितना प्रभावोत्पादक है! फिर भी पकड़ से दूर। पर क्या करूँ! खिड़की के सीखचों तक झाँकने की सुविधा है। बीच में होस्टल की ये पक्की ऊँची दीवारें खड़ी हैं। उधर गेट पर खड़ा चौकीदार दूर की सीमाओं को मुट्ठियों में पकड़े खड़ा है। इसे फाँद कर और उसकी मुट्ठियों को खोल कर भाग आना मेरे लिए सम्भव नहीं। होता तो न जाने क्या कर बैठती।

ठीक है। मुझे यह सब अब सोचना नहीं चाहिए। सीमाबद्ध जीवन निरापद है और सीमा के किनारों को छू-छू कर चलना बहुत जान चुकी हूँ। अब उस ओर कदम नहीं बढ़ाऊँगी, ऐसा मुझे विश्वास है।

स्कूल आजकल बन्द हो रहा है। कड़ाके की सर्दी पड़ रही है। हाथ-पाँव ठिठुरे जा रहे हैं। फिर भी भीतर की जलन आज

इस कोहरे-भरी रात में एकाएक सुलग उठी है। लड़कियाँ इधर-उधर जाने का प्रोग्राम बना रही हैं। मैं भी सोच रही हूँ, छुट्टियाँ कहीं जाकर बिता आऊँ। शायद दिल्ली जाऊँगी। सुना है, आजकल वहाँ खूब चहल-पहल है, प्रदर्शनियाँ, साहित्य-समारोह, संगीत-सभाएँ और भी न जाने क्या-क्या हो रहा है। प्रेमा ने ज़ोर दिया है कि कुछ दिन मैं वहाँ आकर ठहरूँ.....। खयाल मेरा भी बन रहा है कि इस बार वहीं छुट्टियाँ बिता आऊँ। दिल्ली आजकल नव वधू बनी हुई है। उसके रूप की, उसके शृंगार की एक झलक देखने की उत्सुकता हो आई है। शायद इसी सप्ताह जाना हो जाए... वहाँ के कार्यक्रम का पूरा विवरण तुम्हें लिखूँगी। अब... बिदा... सर्दी बहुत बढ़ गई है।

—तुम्हारी भूली-बिसरी रमा

## बीसवां पत्र

मैं दिनों की बात नहीं कहती। कुछ घन्टे बीत गए हों, यह भी नहीं मानती। पर हाँ, कुछ मिनट, सम्भवतः बीस-पच्चीस हो ही गए होंगे। ऐसा तो अनुभव से सोचती हूँ—पाँच मिनट आने में, तीन-चार मिनट दरवाज़े पर आकर अचानक रुक कर अपने को सम्हालने में और फिर कुछ मिनट कलम–दवात ढूंढ़ने में भी। इस से अधिक कुछ नहीं, सच कुछ नहीं। बस इन्हीं पन्द्रह-बीस मिनटों में इन दो वर्षों की अटूट भक्ति और विश्वास की मज़बूत दीवार की ईंट-से-ईंट बजते देख चुकी हूँ। आँखों को अपने पर विश्वास है। मन न माने न सही, फिर भी हार जो है वह तो है ही। इसी से इस हार की चोट से घायल पँछी की तरह टूटे हुए डैनों को लेकर वेदना से छटपटा रही हूँ। फिर भी लिख रही हूँ, क्योंकि यह लिखना मेरा आखिरी लिखना है, जिसके साथ आज से पूरे दो वर्षों का लिखा हुआ भी जुड़ने को है। अब यह लिखा उस लिखे हुए के प्रति उलाहना नहीं रहा। एक बीती घटना का दुःख भर बनकर रह गया है। इसी से सोचती हूँ कि यह सब लिखा हुआ तुम्हारे पास भेजना एक भेंट के स्वरूप में हो—केवल एक भेंट, जो पराजित अहं की एकमात्र भेंट समझी जाए। मैं समझती हूँ, यह भेंट तुम्हें स्वीकार भी खूब होगी।

तुम्हें देखा है राज, इन देखने वाली आँखों से देखा है और

देखा है इन अनदेखी नज़रों से जो पलकों का बोझा सम्हालने में असमर्थ हैं। पर तुम्हारा, तुम्हारी पीठ का, तुम्हारे क़दमों का पीछा करने में मैं ज़रा भी नहीं सकुचाई। दिल की भीतरी धक-धक से घबरा रही थी। ज़ोर से हाथों को दबाए मैं चल रही थी। रुकी नहीं, क्योंकि स्पन्दन नहीं रुका और साँस बन्द नहीं हुई। इसी से चल रही थी। लड़खड़ाते पाँवों में बोझ को सम्हाले और भारी लगने वाले कपड़ों को समेटे मैं चलती गई—उन्हीं नज़रों के सहारे जो देख तुम्हें रही थीं, चलने की दिशा को नहीं।

ओफ ! कहाँ गई वह मेरी आशा ? कहाँ उड़ गया वह मेरा तुम पर अटूट विश्वास ? कहाँ टूट कर बिखर गई वह अनन्य भक्ति जिस में तुम थे, केवल तुम्हारा रूप था, तुम्हारी कामना थी ? मेरा प्रेम मुझे ही धोखा दे गया। मेरे वे स्वप्न आने वाले समय के लिए मुझे आगाह कर रहे थे। पर, पर मैं भूली थी। अपने को खो कर तुम्हारी याद में मैं भूली थी। इसी से जान न सकी, समझ न सकी तुम्हारे इस छिछले प्रेम को, जो बटोरता कहीं से है और लुटाता कहीं और है। काश तुम्हें देखने की कामना न की होती। तुम्हारे विषय में सोचने की ग़लती न की होती, तो यह देखना अनदेखा बन जाता—एक अफ़साने की तरह जो याद करने के लिए नहीं होता, भुलाए जाने को होता है। मैं वहाँ न जाती और जाती भी तो तुम्हें न देख पाती। लेकिन नहीं, यह कैसे हो सकता था ? और तुम ! तुम भी क्यों आए ? आए तो दिखाई क्यों दे गए ? काश, नज़रों की आड़ लेकर तुम छिप गए होते, यों सामने से इठलाते हुए चले न गए होते ! कमला के बहुत ज़ोर देने पर क्लब चली आई थी।

सुना था, कुछ विशेष प्रोग्राम है, मन बहल जाएगा। पर यह क्या ? आरकैस्ट्रा की धुन समाप्त होते ही पीछे से आती हुई एक खिलखिलाहट ने मेरा ध्यान आकर्षित कर लिया। पीछे मुड़कर देखा, एक पहचानी-सी काया दिखाई दी। कुछ ग़ौर से देखा। सुधा की चाल थी। मज़े से खिलखिला रही थी और लिए थी तुम्हारी बाँहों का आश्रय। ओफ़, क्या हुआ मुझे कि मैं देखने के लिए उठ कर खड़ी हो गई ! टाँगें काँपती-सी मालूम हुईं, पर... पर मेरी देह उन्हीं का आश्रय ले सुन्न-सी उन्हीं पर टिकी रही।

कुछ बढ़ी आगे को, देखने को कि कहीं आँखें धोखा न खा गई हों। पर मैं विश्वास किस पर करती ? इस फरेबी मन पर या इन दुष्ट आँखों पर ? यही सोच कर आगे चल पड़ी।

क्या कहूँ कि तुम कैसे रुक गए। पर जो आवाज़ मैंने सुनी वह थी यह— "चलो, ज़रा बार में चलें।" सुधा को ज़ोर देते हुए तुमने यह कहा। उस बार को छोड़ मैं कई कदम आगे निकल आई थी। सो तुम्हारी आवाज़ को सुनते ही अपने को छिपाने की चेष्टा करने लगी। लोगों के झुंड के झुंड आ जा रहे थे। सोचा निकट हो जाऊँ तो दीख न पड़ूँगी। पर बलिहारी मेरी बुद्धि की ! क्यों न समझी कि कहीं और देखने की तुम्हारी अवस्था अब अपनी नहीं ? जो दीखने का था वह तो तुम्हारे पास ही था। उसकी बाँहों को अपनी बाँहों में डालते हुए तुमने कहा—

"चीनी डाँस का शो शुरू होने में तो अभी आध घंटा बाक़ी है। तब तक ज़रा विश्राम ही करलें।" यह कहते-कहते तुम सुधा का हाथ पकड़े बार की ओर बढ़े। तुम्हारे चेहरे पर उल्लास था। बातों में हंसी और...। और की बात कह नहीं सकती। छिपी-

छिपी दृष्टि से जो देख सकी, उसी को समझ भी रही हूँ। तुम जा रहे थे और तुम्हारी हँसी की यही आवाज़ मैं सुन रही थी।

मेरी दूरी को लेकर तुम किसी के इतने निकट हो जाओगे यह जानकर भी विश्वास न कर सकती, अगर इन निगोड़ी आँखों ने तुम्हें न देखा होता।

तुम्हारे प्रेम में अपने को बहा देने पर भी मैं डूबने से बच गई, क्योंकि डूबने के लिए पानी गहरा नहीं था। डूब-डूब कर तैर आई, ओफ़!

तुमने...तुमने मुझे क्यों तंग किया है, क्या मैं पूछ सकती हूँ? तुम्हारी याद की मैंने चाहना क्यों की? तुम्हारे प्रति अपने प्रेम को ईश्वरीय देन समझ कर उसी की पूजा में रत क्यों हो गई? क्यों, बता सकोगे कि तुमने मुझे क्यों नहीं पहचाना? क्यों नहीं मुझे अपना समझा?

झूठ, बिलकुल झूठ। मैंने तुम्हें प्रेम नहीं किया, सचमुच नहीं किया। किया होता तो तुम्हें पा भी लिया होता। प्रेम मेरा तुम तक नहीं था, तुम्हारी आत्मा तक था। इसी से तो उस तक पहुँच नहीं हो सकी। हो सकती तो उस आत्मा को तुम खो न देते। अपनी थाती समझ सहेज-सहेज कर रखते।

पर,...पर मैं क्यों रोती हूँ कि तुम्हें अपने तक रख नहीं सकी सच्ची बात की डौंडी नहीं पीटी जाती। मैं जो हूँ अब खरे सोने की भाँति निखर आई हूँ। अपने अहं से पराजित होकर जो मैंने अब पा लिया है वही तो मेरा असल का पाना है। अपनी आत्मा के भीतर मैं अभी आज ही तो झाँक सकी हूँ। सचमुच यह रूप कितना

उज्ज्वल है ! कितना करुण है ! कितना विश्वस्त है ! और, हाँ, यह रूप उस बच्चे का नहीं, जो किसी की गोद के आश्रय की आवश्यकता रखता है । यह रूप उस प्रेयसी का नहीं जो किसी को अपने तक समेटने को विवश करता है । यह रूप उस पत्नी का भी नहीं, जो पति की आज्ञा को लेकर जीती है । और न है यह उस माँ का रूप, जो अपनी गोद के फल से भरपूर होती है । यह रूप है उस नारी का जो सब कुछ लुटा कर भी जीत गई है ।

उस जीत में तुम शरीक नहीं हुए राज, मुझे अफसोस है । मैंने तुम्हें कितना महान समझा था ! कितना गम्भीर माना था ! पर कहाँ गई तुम्हारी वह महानता और वह गम्भीरता ? सचमुच बीती बातों को भुला कर जब कोई नई बातें सीखता है, तब आरम्भ उसका बहुत सस्ते किस्म का होता है ।

सुधा के साथ डाँस में हिस्सा लेना, बार में जाकर पीना और पिलाना, आखिर यह सब कितना सस्ता है ! ओफ, मुझे तुम्हारे इस सस्तेपन के लिए तुम्हारे प्रति दया हो आई है । कहाँ तो तुम मेरी पूजा के प्रतीक बन आए थे और कहाँ अब दया के पात्र ! ओफ़, तुम्हारी आत्मा का इतना पतन होते देख मुझे स्वयं रोने की अपेक्षा तुम पर दया हो आई है । तुम्हारी जिस शालीनता को मैं देख सकी थी, जिसकी अनुभूति ने आज तक मुझे तुम्हारे निकट लाने को विवश किया वह सब कहाँ गई ?

सोच रही हूँ राज, कि आदमी बड़प्पन को पाकर बड़ा क्यों नहीं रह सकता । वह उड़ान उसकी ऊँचाई पर क्यों नहीं रहती ? क्यों वह नीचे की ओर खिसकता है ? अखबार में देखा था तुम्हारा फोटो और उसके साथ यह भी पढ़ा था कि तुम अब कितने बड़े